अग्निशिखा

अखिल भारतीय पत्रिका

सितम्बर २०१७

सुन्दर जीवन की ओर

(भाग-१)

अग्निशिखा सितम्बर २०१७ वर्ष ४८, अंक २, पूर्णांक ५६५

विषय-सूची

'सुन्दर जीवन की ओर' (भाग-१ जीवन की चुनौतियाँ)

सन्देश/सम्पादकीय		३
अनिश्चिति		६
व्याकुलता, आशंका और भय		८
सम्बन्धों के विषय में		१८
'अहंकार ही बाधा है'		२६
'मैं कुछ नहीं जानता'		२९
निश्चिति की ओर		३२
क्रोध और हिंसा		३६
'पुरोधा' : दैनन्दिनी		३९
श्रीमाँ के साथ पत्र-व्यवहार	'श्रीमातृवाणी' से	४२
फूलवाली	स्व. ज्ञानवती गुप्ता	४६
जो है जैसा है (कविता)	अज्ञात	४९
भय की आहुति दे डालो	स्व. रवीन्द्रजी	५०
श्रीअरविन्द सोसायटी के सभी सदस्यों के लिये सूचना		५३
जो सुख पाया लूगड़ी में... !	वन्दना	५४
बोध कथा : भारत स्वर्ग-समान क्यों?		५८

मुखपृष्ठ के पुष्प का श्रीमाँ द्वारा दिया गया आध्यात्मिक अर्थ

अतिमानसिक उपलब्धि के लिए अभीप्सा करता हुआ सौन्दर्य

सौन्दर्य अपने-आपमें पर्याप्त नहीं है, वह दिव्य होना चाहता है।

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका

Website : www.aurosociety.org

सम्पादिका : वन्दना

प्रकाशक : प्रदीप नारंग, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी—६०५००२

मुद्रक : स्वाधीन चैटर्जी, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पॉण्डिचेरी

सन्देश

साधना आरम्भ करने के लिए तीन अनिवार्य चीज़ें : समस्त सत्ता और उसके सारे क्रिया-कलाप में सम्पूर्ण सच्चाई और निष्कपटता।

कुछ भी बचाये बिना पूर्ण आत्म-समर्पण।

अपने ऊपर धीरज के साथ काम करना और साथ ही पूर्ण, निष्कम्प शान्ति और समता को निरन्तर हस्तगत करते रहना।

—श्रीअरविन्द

सम्पादकीय : हम सब विश्वास तथा बल का सम्बल साथ ले अपनी जीवन-यात्रा पर इस आशा के साथ चल पड़ते हैं कि हम अपनी सम्पूर्ण जीवन-यात्रा को सुन्दर तथा अनुकूल बनायेंगे। लेकिन जीवन-यात्रा के पथ पर हमें कई सारी चुनौतियों से जूझना पड़ता है। अगर हम जीवन की हर एक चुनौती का सच्चा अर्थ जान लें तो देख सकते हैं कि हर एक में कोई-न-कोई सुअवसर अवश्य ही छिपा रहता है।

सितम्बर तथा अक्तूबर-अंक में हम श्रीअरविन्द तथा श्रीमाँ की कृतियों से उन वचनों का संकलन देने का प्रयास कर रहे हैं जिन्हें अपने अन्दर गहरे उतार कर हम जीवन को उसके सभी आयामों में सुन्दर, सफल, सामञ्जस्यमय तथा सार्थक बना सकते हैं। हमारा लक्ष्य होना चाहिये, व्यवस्थित, जटिलताओं से रहित, सीधा-सादा जीवन ताकि हम जीवन-मूल्यों को पहचान सकें, उचित मनोभाव ग्रहण कर, उच्चतर लक्ष्य को सम्पन्न कर सकें।

सितम्बर का अंक 'जीवन की चुनौतियों' (भाग एक) पर प्रकाश डालता है और अक्तूबर का अंक 'सुन्दर जीवन के लिए आवश्यक गुण तथा साधन' (भाग दो) की महत्ता दर्शाता है।

श्रीअरविन्द जगत् को उस भविष्य के सौन्दर्य के बारे में बतलाने आये थे जिसे चरितार्थ होना ही है। वे उस भव्यता की आशा नहीं, निश्चिति देने आये थे जिसकी ओर जगत् बढ़ रहा है। जगत् एक दुर्भाग्यपूर्ण दुर्घटना नहीं है, यह एक ऐसा अचम्भा है जो अपनी अभिव्यक्ति की ओर गति कर रहा है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १३, पृ. १५

भाग १ : जीवन की चुनौतियाँ

वास्तव में, तपस्या की विकृतियों और उनके विघटनकारी परिणामों के द्वारा सुख की विकृतियों और उनके अज्ञानमय परिणामों के साथ संघर्ष करने की अपेक्षा, संयम और सन्तुलन के साथ समचित्तता और स्थिरता का जीवन बिताना कहीं अधिक कठिन है।

अपनी भौतिक सत्ता के साथ इस हद तक बुरा व्यवहार करना कि वह शून्यवत् हो जाये, इसकी अपेक्षा, उसमें स्थिरता और सरलता के साथ सामञ्जस्यपूर्ण उत्तरोत्तर विकास पाना बहुत अधिक कठिन है।

बड़े गर्व के साथ अपने संयम का प्रदर्शन करने के लिए शरीर को उसके लिए आवश्यक आहार और शुद्ध अभ्यासों से वञ्चित करने की अपेक्षा, बिना इच्छा के गम्भीरतापूर्वक जीना कहीं ज़्यादा कठिन है।

रोग की अवहेलना करने और उसकी ओर ध्यान न देने और उसे अपना विनाश-कार्य करते रहने देने की अपेक्षा, उस पर आन्तरिक और बाह्य सामञ्जस्य, शुद्धि और सन्तुलन द्वारा विजय प्राप्त करना या उसे आने न देना बहुत ज़्यादा कठिन है।

और सबसे कठिन कार्य है, चेतना को हमेशा उसकी क्षमता के शिखर पर बनाये रखना और शरीर को कभी निचले आवेगों या प्रेरणाओं के प्रभाव में आकर काम न करने देना।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १२, पृ. ४५

अनिश्चिति

उदाहरण के लिए : अधिकतर मनुष्यों के लिए यह सुरक्षा ही आदर्श है; सुरक्षा में रहना, उन अवस्थाओं में रहना जहाँ उन्हें ज़िन्दा बने रहने का भरोसा हो। यदि हम ऐसा कह सकें तो, यह महान् "लक्ष्यों" में से एक है, मानव प्रयासों के महान् प्रेरक हेतुओं में से एक है। कुछ लोग ऐसे हैं जिनके लिए आराम ही महत्त्वपूर्ण है; कुछ के लिए सुख और मन-बहलाव। ... असुरक्षा, अनिश्चय की भावना एक तरह का हथियार है, एक माध्यम है जिसे राजनीतिक और धार्मिक दल लोगों को प्रभावित करने के लिए व्यवहार में लाते हैं। वे इन विचारों के साथ खिलवाड़ करते हैं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ९, पृ. ३८५-८६

भवितव्यता को पहले से जान लेना! कितनों ने इसके लिए प्रयास किया है, कितनी पद्धतियाँ बनी हैं, भविष्य-दर्शन की कितनी विद्याएँ रची गयी हैं, विकसित की गयी हैं और फिर झूठी पण्डिताई और अन्धविश्वास के आरोप के साथ नष्ट हो गयी हैं! पर भवितव्यता को पहले से जान लेना हमेशा इतना कठिन क्यों रहा है? जब कि यह साबित हो चुका है कि प्रत्येक चीज़ अनिवार्य रूप से पूर्वनिर्दिष्ट है, तब क्या कारण है कि हम निश्चित रूप से नियति को जानने में सफल नहीं हो पाते?

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १२, पृ. ६९

क्या तुम जानते हो कल क्या घटित होने जा रहा है?... तुम कम या अधिक अनुमान लगा सकते हो, तुम अपने-आपसे कह सकते हो कि वह आज के जैसा ही होगा पर तुम उसे ज़रा भी नहीं जानते। तुम नहीं जानते कि कल क्या घटित होने जा रहा है, इससे कम यह कि एक महीने में क्या होगा, और भी कम यह कि एक साल में क्या होगा।

... तुम जो कुछ अभी करते हो उसी में दिलचस्पी लेते हो, क्योंकि तुम नहीं जानते कि क्या घटित होने जा रहा है। यदि तुम्हें पूर्ण रूप से यह ज्ञात होता कि क्या घटित होने जा रहा है तो मुझे विश्वास है कि हज़ार में से ९९९ व्यक्ति चुपचाप बैठ जायेंगे और उस चीज़ के घटित होने की प्रतीक्षा करेंगे। यदि तुम ठीक-ठीक यह जान जाओ कि क्या होने जा

रहा है तो तुम्हारा सारा उत्साह काफ़ूर हो जायेगा और अधिकांश विषयों में तुम कहोगे, "क्या मुझे वहाँ तक पहुँचने के लिए ये सारी चीज़ें करनी होंगी? आह, नहीं, नहीं!"

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. ३३१

... लोग पैदा होते हैं, जीते हैं, मर जाते हैं, फिर से जन्म लेते, और जीते और फिर से मर जाते हैं, और यह चलता रहता है, अनन्तकाल तक चलता रहता है, वे कभी समस्या को अपने सामने तक नहीं रखते। लेकिन एक बार चस्का लग जाये, जीवन क्या है इसका स्वाद मिल जाये, और यह पता लग जाये कि व्यक्ति यहाँ क्यों है, और उसे यहाँ क्या करना है, और फिर इसके अतिरिक्त उसने कुछ प्रयास किया हो और उपलब्धि के लिए प्रयत्न किया हो, अगर वह उस तमाम असबाब से पिण्ड नहीं छुड़ाता जो उसका साथ नहीं दे रहा तो यह ज़रूरी होगा कि वह एक बार फिर से शुरू करे। ऐसा न हो तो अच्छा है। अपना काम तभी करना ज़्यादा अच्छा है जब तुम उसे सचेतन रूप से कर सको, और "काल करे सो आज कर" का वास्तव में यही मतलब है। इस "आज" का मतलब है इस जीवन में, क्योंकि यहाँ अवसर है, सुयोग है; और शायद ऐसा अवसर फिर एक बार पाने के लिए तुम्हें हज़ारों वर्ष प्रतीक्षा करनी होगी। ज़्यादा अच्छा है कि अपना काम किसी भी क़ीमत पर करो; तो!... यथासम्भव कम-से-कम समय नष्ट करते हुए करो।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. २१७-१८

तुम मानसिक व्याकुलता को अपने-आपको सताने न दो। प्रतीक्षा करो कि श्रीमाँ की शक्ति की क्रिया तुम्हारे अन्दर कार्य करे और वही तुम्हारा हृदय-कमल उद्घाटित कर देगी।

परेशान होने की कोई ज़रूरत नहीं है। जब व्याकुलता उठे तो बस शान्त और उद्घाटित रहना है तथा तब तक श्रीमाँ की ओर मुड़े रहना है जब तक कि अन्दर से कोई चीज़ विकसित होकर ऊपर न उभर आये।

—श्रीअरविन्द

व्याकुलता, आशंका और भय

मनुष्य के साथ शुरू हो गयी है यह चिरन्तन चिन्ता कि क्या होने वाला है और यही दुश्चिन्ता उसकी यातना का एकमात्र नहीं तो प्रधान कारण तो है ही। वस्तुपरक चेतना के साथ शुरू हुई दुश्चिन्ता, दर्दभरी कल्पनाएँ, चिन्ता, यन्त्रणा, भावी अनिष्टों की आशंका जिनके फलस्वरूप अधिकतर मनुष्य—सबसे कम सचेतन नहीं बल्कि सर्वाधिक सचेतन मनुष्य—निरन्तर सन्ताप में जीते हैं।... जब किसी के पास आवश्यक ज्ञान ही न हो तो भला समस्या कैसे सुलझ सकती है? दुर्भाग्य तो यह है कि मनुष्य मानता है कि उसे अपने जीवन की सारी समस्याएँ सुलझानी हैं, पर उसके पास अपेक्षित ज्ञान नहीं है। यही है उसके सभी कष्टों का स्रोत और मूल। वही चिरन्तन प्रश्न: "मुझे क्या करना चाहिये?..." इसके साथ एक और, इससे भी अधिक मार्मिक प्रश्न जुड़ जाता है: "क्या होने वाला है?" और साथ ही, प्रायः उत्तर देने की अक्षमता।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ९, पृ. ३३२, ३३३-३३४

लगभग सभी लोग परिणाम के विषय में आतुर होते हैं अथवा परिणाम प्राप्त करने के लिए महत्त्वाकांक्षी होते हैं। उन्हें परिणामों के विषय में उत्कण्ठित नहीं होना चाहिये; बस इसलिए कार्य करो कि तुमने जान लिया है कि यही काम है जिसे तुम्हें अवश्य करना चाहिये; अपने-आपसे कहो: "मैं इसे कर रहा हूं, क्योंकि यही वह चीज़ है जिसे करना चाहिये, बाद में चाहे जो भी हो उससे मेरा कोई मतलब नहीं।"

यह स्पष्ट ही एक आदर्श है और जब तक इसे प्राप्त नहीं कर लिया जाता तब तक कार्य में सर्वदा मिलावट रहेगी।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. १६

जब हम यह जानते हैं कि यह कार्य नहीं करना चाहिये और फिर उसी को लगातार करते रहते हैं तो उसका अर्थ यह होता है कि हम जो कुछ आराम, जो कुछ सम्भवनीय शान्ति, जो कुछ सुख-समृद्धि प्राप्त कर सकते हैं उसकी बलि चढ़ा कर ही ऐसा कर रहे हैं। जो मनुष्य झूठ बोलता है वह इस भय से निरन्तर बेचैन रहता है कि उसकी मिथ्या बात प्रकट हो

जायेगी; जो व्यक्ति ग़लत रूप में कार्य करता है वह इस भावना से सदा चिन्तित रहता है कि शायद उसे दण्ड दिया जायेगा; जो व्यक्ति धोखा देने की चेष्टा करता है वह शान्ति नहीं पाता और इस बात से संत्रस्त रहता है कि कहीं यह न पता चल जाये कि वह धोखा देता है।

वास्तव में, विशुद्ध अहंकारपूर्ण हेतु से भी शान्त-स्थिर बने रहने तथा अपनी दुश्चिन्ता को घटा कर कम-से-कम कर देने का सबसे उत्तम साधन है अच्छा काम करना, सच्चा होना, सरल होना और न्यायपरायण होना। और इसके साथ-साथ यदि कोई बिना लेखा-जोखा किये और स्वार्थ-बुद्धि के बिना निष्काम और अनासक्त हो सके, तो फिर उसके लिए वास्तव में सुखी होना सम्भव हो जायेगा।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. २११

... तुम जिस चिन्ता की बात करते हो वह इसलिए आती है क्योंकि तुम अपने-आपमें बहुत ज़्यादा रमे रहते हो। तुम्हारे लिए कहीं ज़्यादा अच्छा होगा कि तुम जो कर रहे हो (चित्रकला या संगीत) उसमें मन लगाओ, अपने मन को विकसित करो जो अभी तक बहुत अशिक्षित है, और ज्ञान के वे तत्त्व सीखने में लगाओ जिनका जानना अनिवार्य है, यदि तुम अज्ञानी और असंस्कृत नहीं रहना चाहते। अगर तुम नियमित रूप से दिन में आठ-नौ घण्टे काम करो तो तुम्हें भूख लगेगी, तुम अच्छी तरह से खाओगे और शान्ति से सोओगे और तुम्हारे पास यह सोचने के लिए समय न होगा कि तुम अच्छी मनोदशा में हो या बुरी।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १२, पृ. ११९

... यह व्याकुलता जो **इतनी** बुरी है: "मुझे जल्दी करनी चाहिये, मुझे जल्दी करनी चाहिये, अधिक समय नहीं है, मुझे जल्दी करनी चाहिये, अब अधिक समय नहीं है।" इस तरह तुम चीज़ें बहुत बुरी तरह करते हो, या फिर करते ही नहीं, लेकिन चैत्य का सम्पर्क पाते ही यह चीज़ सचमुच ग़ायब हो जाती है; तुम ज़रा ज़्यादा विशाल, स्थिर और शान्त होने लगते हो और शाश्वत में जीने लगते हो।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. ३७८

और यह उन लोगों के लिए सबसे अच्छा उत्तर है जो कहते हैं, "ओह! यदि कोई अच्छी तरह कार्य करना चाहता है तो उसे समय अवश्य मिलना चाहिये।" यह सच नहीं है। क्योंकि तुम चाहे जो कुछ करो—पढ़ना, खेलना, कार्य—बस, केवल एक ही समाधान है : एकाग्र होने की अपनी शक्ति को बढ़ाना। और जब तुम इस एकाग्रता को प्राप्त कर लेते हो तो वह फिर थकाने वाली नहीं होती। स्वाभाविक है कि प्रारम्भ में, इसमें एक प्रकार का तनाव पैदा होता है, पर जब तुम इसके अभ्यस्त हो जाते हो तो तनाव कम हो जाता है, और एक समय ऐसा आता है जब तुम्हें इस प्रकार एकाग्र न होने के कारण, अपने-आपको छितरा देने के कारण, सभी प्रकार की चीज़ों का अपने को शिकार बन जाने देने के कारण तथा जो कुछ करना है उस पर एकाग्र न होने के कारण थकावट आती है। मनुष्य एकाग्रता की शक्ति के द्वारा और अधिक अच्छी तरह तथा अधिक शीघ्रता से कार्य पूरा करने में सफल हो सकता है। इस प्रकार तुम कर्म का उपयोग विकास के साधन के रूप में कर सकते हो...

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. १६३-६४

बहरहाल, एक ऐसी चीज़ है जिसे तुम पूर्ण सुरक्षा के साथ कर सकते हो; सोने से पहले एकाग्र होओ, भौतिक सत्ता के सारे तनाव को शिथिल कर दो, कोशिश करो... यानी, शरीर में कोशिश करो कि तुम्हारा शरीर बिस्तर पर पड़े हुए एक नरम लत्ते की तरह हो, उसमें कहीं कोई अकड़, ऐंठन या झटका न रहे; उसे बिलकुल शिथिल कर दो मानों वह एक लत्ते के जैसी चीज़ हो। और फिर, प्राण : उसे शान्त करो, जितना कर सको उतना शान्त करो, अचञ्चल करो, जितना सम्भव हो उतना शान्त करो। और फिर, मन भी—उसे यूँ निष्क्रिय रखने की कोशिश करो।

तुम्हें अपने मस्तिष्क पर महान् शान्ति की, महान् स्थिरता की, और सम्भव हो तो निश्चल-नीरवता की शक्ति डालनी चाहिये। विचारों का सक्रिय रूप से अनुसरण नहीं करना चाहिये, कोई प्रयास नहीं करना चाहिये, कुछ नहीं, कुछ नहीं; वहाँ भी हर गति को ढीला कर दो, लेकिन शिथिल करो एक प्रकार की निश्चल-नीरवता में और यथासम्भव अधिक-से-अधिक शान्त स्थिरता में।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. ७२

साधारणतः, जैसे ही चीज़ें कठिन होने लगती हैं, मनुष्य उत्तेजित हो उठते हैं, बहुत चिड़चिड़े हो जाते हैं, व्यथित हो जाते हैं और इस तरह कठिनाइयों को दस गुना कठिन बना लेते हैं। मैं तुम्हें पहले से ही सावधान किये देती हूँ कि यह सब नहीं करना चाहिये, इससे उलटा करना चाहिये। जैसे ही तुम अपने अन्दर ज़रा-सी चिन्ता या अशान्ति का अनुभव करो तो तुरन्त उसे दोहराओ जो मैं तुम्हें सुनाने वाली हूँ। मैं तुम्हें आज जो बात बता रही हूँ इसे सारे वर्ष याद रखो। तुम इसे सवेरे-साँझ दोहरा सकते हो, इससे लाभ होगा।...

"कोई भी मानवीय इच्छा अन्ततः 'भागवत इच्छा' के विरुद्ध सफल नहीं हो सकती। आओ, हम अपने-आपको सोच-समझ कर और ऐकान्तिक भाव से भगवान् के पक्ष में रखें, और अन्ततोगत्वा 'विजय' निश्चित है।"

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. ५१०-११

आओ, हम प्रतिदिन चिन्ता के बिना जियें। जो चीज़ शायद कभी न हो उसके लिए पहले से ही चिन्ता क्यों की जाये?

*

चिन्ता भगवान् की कृपा पर विश्वास का अभाव है। यह अचूक चिह्न है कि समर्पण पूर्णतया सम्पूर्ण नहीं है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १४, पृ. २४६

मेरे प्यारे बालक,

पिछले कुछ महीनों से तुम आध्यात्मिक रूप से बड़ी तेज़ी से प्रगति कर रहे हो और मैं चाहती हूँ कि तुम इन सभी प्रहारों को उन सामान्य परीक्षाओं की बाहरी अभिव्यक्ति के रूप में लो जिन्हें विरोधी शक्तियाँ साधना को मज़बूत तथा तीव्रतर बनाने के लिए लाती हैं। ये तुम्हें भागवत कृपा में निरपेक्ष श्रद्धा तथा विश्वास रखना सिखा रही हैं, क्योंकि जब ये परीक्षाएँ पूर्ण तथा समग्र हो जायेंगी तब समस्त दुःख तथा विक्षोभ तुम्हारे अन्दर से निकल जायेगा।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १७, पृ. ४८९

साधारण मानव-अवस्था भय और आशंकाओं से भरी होती है। यदि तुम अपने मन को दस मिनट तक गहराई से देखो तो तुम्हें पता लगेगा कि दस में से नौ विचार भय से भरे हुए हैं—उनमें छोटे-बड़े, दूर और पास के, देखी-अनदेखी अनेक चीज़ों के भय भरे रहते हैं, और यद्यपि यह बात साधारणतया तुम्हारी सचेतन दृष्टि में नहीं आती, फिर भी ये भय तुम्हारे अन्दर होते अवश्य हैं। समस्त भय से मुक्ति अनवरत प्रयास और साधना द्वारा ही सम्भव है।...

भय के कारण उस समय तक तुम पर बारम्बार हमला करते रहते हैं जब तक तुम इस योग्य न हो जाओ कि उनके सामने स्वतन्त्र, उदासीन, अछूते और शुद्ध होकर खड़े रह सको। किसी को समुद्र का भय होता है, कोई आग से डरता है। हो सकता है कि जो व्यक्ति अग्नि से डरता है उसे एक के बाद एक अनेकों भीषण अग्निकाण्डों का सामना करना पड़े, यहाँ तक कि वह इतना अभ्यस्त हो जाये कि इस काण्ड से उसके शरीर का एक भी कोषाणु तक न काँपे। जिस चीज़ से तुम्हारे अन्दर त्रास पैदा होता हो वह उस समय तक बारम्बार आती रहती है जब तक कि त्रास बिलकुल बन्द न हो जाये।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. ६५-६६

हम जानते हैं कि भय सदा वही वस्तु हमारे सामने ले आता है जिससे हम भय खाते हैं। यदि तुम दुर्घटना से डरते हो, तो यह डर उसे तुम्हारी ओर ले आने के लिए चुम्बक का काम करेगा। इस अर्थ में, यह कहा जा सकता है कि यह व्यक्ति के चरित्र का ही परिणाम है। और यही बात बीमारी के साथ भी है। कुछ लोग बीमारों के बीच तथा उस स्थान पर जहाँ महामारी फैली हुई है, बड़े आराम से घूम-फिर सकते हैं, उन्हें कभी कोई बीमारी नहीं होती। और कुछ ऐसे होते हैं जिनके लिए किसी रोगी के साथ एक घण्टा बिताना ही काफ़ी होता है, वे चट-से बीमारी की लपेट में आ जाते हैं। यह भी उसी पर निर्भर करता है कि वे अपने अन्दर क्या हैं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. २

भगवन्! हम एकमात्र तेरी कृपा पर पूरी तरह आश्रित रहें। —श्रीमाँ

रोग के ख़तरे का नव-दशांश भाग भय से पैदा होता है। भय के कारण किसी रोग के लक्षण प्रकट हो सकते हैं; बल्कि यहाँ तक हो सकता है कि इसकी वजह से स्वयं रोग तक हो जाये, इतनी दूर तक जा सकते हैं इसके प्रभाव।... ये अनुभव किसी भी प्रकार के क्यों न हों, तुम्हें भय को कभी स्थान न देना चाहिये; तुम्हें यह अटल विश्वास रखना और अनुभव करना चाहिये कि जो कुछ हो रहा है वह वही है जो होने को था। एक बार तुमने इस मार्ग को चुन लिया है तो तुम्हें इस चुनाव के समस्त परिणामों को भी बहादुरी के साथ स्वीकार करना चाहिये। परन्तु यदि तुम पहले तो चुनो और फिर पीछे हटो, और फिर चुनो और फिर दुबारा पीछे हटो, सदा डगमगाते रहो, सदा सन्देह करते रहो, सदा डरते रहो तो तुम अपनी सत्ता में असामञ्जस्य की सृष्टि कर लेते हो, और यह असामञ्जस्य केवल तुम्हारी प्रगति को ही नहीं रोकता, बल्कि तुम्हारे मन और प्राण में नाना प्रकार के क्षोभ और शरीर में तकलीफ़ और रोग पैदा कर सकता है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. १०२-०३

क्या व्यक्ति अज्ञान के कारण कायर होता है?

इसका मतलब होगा कि तुम अज्ञान को सभी बुरी चीज़ों का कारण मान सकते हो। लेकिन मेरा ख़याल है कि व्यक्ति बहुत ज़्यादा तामसिक होने के कारण और प्रयास करने से डरने के कारण कायर होता है। कायर न होने के लिए प्रयास करना पड़ता है, प्रयास से आरम्भ करना पड़ता है, और बाद में, यह बहुत रोचक बन जाता है। लेकिन सबसे अच्छी बात है, अपने अन्दर से भाग निकलने की इस वृत्ति पर विजय पाने की कोशिश करना। चीज़ का सामना करने की जगह, तुम पीछे हटते हो, उससे कतराते हो, उसे पीठ दिखा कर भाग निकलते हो। क्योंकि आरम्भिक प्रयास कठिन होता है। इसलिए, जो चीज़ तुम्हें प्रयास करने से रोकती है, वह है जड़, अज्ञानमयी प्रकृति।

राजसिक प्रकृति में प्रवेश करते ही तुम प्रयास करना पसन्द करने लगते हो। राजसिक लोगों को कम-से-कम एक लाभ है, वे साहसी होते हैं, जब कि तामसिक लोग कायर होते हैं। प्रयास का डर उन्हें कायर

बना देता है। क्योंकि, तुम एक बार शुरू कर दो, एक बार निश्चय कर लो और प्रयास शुरू कर दो, तो तुम्हें मज़ा आने लगेगा। कुछ लोगों को पाठ अच्छा न लगने का, अध्यापक की बात सुनना न चाहने का कारण भी ठीक यही चीज़ होती है। यह तामसिक चीज़ है। यह सो जाना है। यह चीज़ उस प्रयास से बचती है जो किसी चीज़ को पकड़ने, समझने और बनाये रखने के लिए करना पड़ता है। यह अर्ध-तन्द्रा है। यह भौतिक रूप से वही चीज़ है, यह सत्ता की तन्द्रा है, जड़ता है।

ऐसे लोग हैं जो... मैं ऐसे लोगों को जानती थी जो भौतिक रूप से बहुत साहसी थे, पर नैतिक दृष्टि से बहुत, बहुत कायर, क्योंकि मनुष्य विभिन्न भागों से बने हुए हैं। उनकी भौतिक सत्ता सक्रिय और साहसी हो सकती है, और उनकी नैतिक सत्ता कायर। मैं इससे उलटे उदाहरण भी जानती थी: मैंने ऐसे लोग देखे हैं जो अन्दर से बहुत साहसी थे और बाहर से बहुत ही अधिक कायर। लेकिन इन्हें कम-से-कम एक लाभ होता है, इनमें एक आन्तरिक संकल्प-बल होता है, और ये काँपते समय भी अपने-आपको बाधित कर सकते हैं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. २७-२८

संसार ऐसी चीज़ों से भरा है जो सुखकर या सुन्दर नहीं हैं, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि मनुष्य इन चीज़ों से दिन-रात घृणा करता रहे। घृणा, जुगुप्सा और भय की समस्त भावनाओं पर, जो मानव मन को क्षुब्ध और दुर्बल करती हैं, विजय प्राप्त की जा सकती है।... तुम सभी प्राणियों, वस्तुओं और घटनाओं के सम्मुख पूर्ण समचित्तता रखो। तुम्हें सदा स्थिर, निर्लिप्त और अविचलित रहना चाहिये, इसी में योग का बल है। यदि तुम पूर्ण रूप से स्थिर और शान्त हो तो तुम्हारे सामने आने पर ख़तरनाक और खूँखार पशु भी निरस्त्र हो जायेंगे।

... जो चीज़ तुम्हारा सबसे अधिक संरक्षण करती है वह है ज्ञान, किसी ख़तरे से बिना सोचे-विचारे दूर हट जाना नहीं बल्कि इस बात का ज्ञान कि ख़तरा कैसा है और साथ ही जिन साधनों से वह टल सकता है या निष्फल हो सकता है उन साधनों का सचेतन उपयोग। ये गतियाँ जिस अज्ञान में से जन्म लेती हैं वह एक साधारण मानव अवस्था है, किन्तु उस

पर विजय प्राप्त की जा सकती है; क्योंकि हम असंस्कृत मानव प्रकृति से, जहाँ से हमारी बाह्य सत्ता का आरम्भ होता है और जो हमें चारों ओर से घेरे हुए है, बँधे नहीं हैं।

बढ़ती हुई चेतना अज्ञान को दूर कर देती है। जिस चीज़ की तुम्हें ज़रूरत है वह है चेतना, सदैव अधिकाधिक चेतना, शुद्ध, सरल और ज्योतिर्मयी चेतना। इस प्रकार की पूर्णता-प्राप्त चेतना के प्रकाश में चीज़ें अपने असली रूप में दिखायी देती हैं, वैसी नहीं जैसी वे अपने को दिखाना चाहती हैं। यह प्रकाश एक चित्रपट की तरह होता है जो सामने से गुज़रती हुई चीज़ों को हूबहू दिखा देता है। वहाँ तुम देख पाते हो कि कौन-सी चीज़ ज्योतिर्मयी है और कौन-सी अन्धकारमयी, कौन-सी सीधी है और कौन-सी टेढ़ी। तुम्हारी चेतना एक चित्रपट या दर्पण बन जाती है; पर यह तब होता है जब तुम चिन्तन-मनन की अवस्था में केवल द्रष्टा मात्र रहते हो; जब तुम सक्रिय होते हो तो यह चेतना 'सर्चलाइट' की तरह हो जाती है। यदि तुम्हें कहीं किसी चीज़ को साफ़-साफ़ देखना हो और उसकी अन्दरूनी जाँच-पड़ताल करनी हो तो बस इस 'सर्चलाइट' को जला दो।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. ११३-१४

यदि तुम अपनी चेतना को अपनी पहुँच की ऊँची-से-ऊँची चेतना के सम्पर्क में ला सको तो, पूरी तरह निश्चय रखो, जो होगा, वह जो हो सकता है उसमें अच्छे-से-अच्छा होगा। लेकिन जैसे ही तुम उस चेतना से निचले स्तर पर गिर पड़ो वैसे ही जो होगा वह स्पष्टतः अच्छे-से-अच्छा न होगा और कारण स्पष्ट है—तुम अपनी अच्छी-से-अच्छी चेतना में नहीं हो...। मैं निश्चयपूर्वक यहाँ तक कह सकती हूँ कि हर एक के तात्कालिक प्रभाव के क्षेत्र में उचित मनोवृत्ति में इतनी शक्ति होती है कि वह हर परिस्थिति को लाभदायक बना सके, इतना ही नहीं, वह स्वयं परिस्थिति को बदल तक सकती है। उदाहरण के लिए, अगर कोई तुम्हें मारने आये, उस समय तुम यदि साधारण चेतना में रहो और डर कर होशोहवास खो बैठो तो सम्भवतः वह जो कुछ करने के लिए आया है उसमें सफल हो जायेगा; अगर तुम ज़रा ऊपर उठ सको और डर से भरे होते हुए भी भागवत सहायता को बुलाओ तो वह ज़रा-सा चूक जायेगा या तुम्हें ज़रा-सी चोट ही

पहुँचा पायेगा; लेकिन अगर तुम्हारे अन्दर उचित मनोवृत्ति हो और तुम्हारे चारों ओर हर जगह भागवत उपस्थिति की पूरी चेतना हो तो वह तुम्हारे विरुद्ध उँगली भी न उठा सकेगा।

यह सत्य रूपान्तर की सारी समस्या की ठीक चाबी है। हमेशा भागवत उपस्थिति के साथ सम्बन्ध बनाये रखो, उसे नीचे उतारने की कोशिश करो —तो हमेशा अच्छे-से-अच्छी चीज़ ही होगी। पर हाँ, सारा जगत् एकदम नहीं बदल जायेगा, लेकिन वह जितनी तेज़ी कर सकता है उतनी तेज़ी से आगे बढ़ेगा।...अगर तुममें से हर एक अधिक-से-अधिक प्रयास करे तो यह सच्चा सहयोग होगा और परिणाम बहुत जल्दी आ सकेगा। मैंने उचित मनोवृत्ति की शक्ति के अनेक उदाहरण देखे हैं। मैंने देखा है कि एक अकेले आदमी की उचित मनोवृत्ति के कारण जन-समूह महाविपत्ति से बच गये हैं।...

प्रत्येक बार जब तुम किसी अस्वस्थ कल्पना में रस लेते हो, अपने भयों की रूपरेखा बनाते हो, दुर्घटनाओं और विपत्तियों की आशंका करते हो, तब तुम अपने भावी विनाश के लिए खाई खोदते हो। इसके विपरीत, तुम्हारी कल्पना जितनी अधिक आशापूर्ण होगी, अपने लक्ष्य को पूरा करना तुम्हारे लिए उतना ही अधिक सम्भव होगा।... अतएव, मैं तुमसे कहती हूँ कि उदास और निराश मत होओ; बल्कि ऐसा करो कि तुम्हारी कल्पना सदा आशापूर्ण और उच्चतर 'सत्य' के दबाव के प्रति सहर्ष नमनशील रहे, जिससे वह सत्य जब आये तो तुम्हें उन रचनाओं से परिपूर्ण पाये जो उसके सर्जनकारी प्रकाश को धारण करने के लिए आवश्यक हैं।... इस अटूट आशा और विश्वास में निवास करो कि जो कार्य हम कर रहे हैं वह सफल होगा।...

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. १६६-६९

प्राणमय जगत् के देश और काल में होने वाली क्रियाओं की एक विशेषता यह है कि उस लोक की सत्ताएँ अपनी इच्छानुसार दानवाकार ले सकती हैं और तुम्हारे अन्दर भीषण भय का सञ्चार कर सकती हैं। यह तुम्हारे ऊपर आक्रमण करने और अधिकार जमाने का उनका अत्यन्त शक्तिशाली उपाय होता है। हम उस समय यह याद रखें कि उनकी डराने

की यह शक्ति झूठी है और भय को अपने पास न फटकने दें। जब तुम साहस के साथ उनका सामना करते हो, ज़रा भी इतस्ततः नहीं होते और सीधे उनकी आँखों में ताकते हो तो उसी क्षण मानों उनकी तीन-चौथाई शक्ति काफ़ूर हो जाती है। और तुम यदि सहायता के लिए हमें पुकारो तब तो उनकी रही-सही बाक़ी शक्ति भी नहीं बचती और वे भाग खड़ी होती हैं अथवा विलुप्त हो जाती हैं।... अतएव, संक्षेप में, दो बातें याद रखो: कभी, किसी अवस्था में भी भयभीत मत होओ और सभी परिस्थितियों में अपनी शक्ति को सौगुना बनाने के लिए सच्ची सहायता को पुकारो।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. १७७-७८

इन बदलते मनोभावों के आने का कारण यह है कि तुम्हारे अन्दर दो विभिन्न तत्त्व हैं। एक ओर, तुम्हारे अन्दर तुम्हारा चैत्य पुरुष विकसित होने का प्रयत्न कर रहा है; जब वह जाग्रत् होता है तो तुम्हें श्रीमाँ के प्रति सामीप्य या ऐक्य का भाव और आनन्द का अनुभव देता है। दूसरी ओर है तुम्हारी पुरानी प्राणिक प्रकृति, अशान्त और कामनाओं से परिपूर्ण, और इस अशान्ति तथा कामना के कारण अप्रसन्न। इसी पुरानी प्राणिक प्रकृति को तुम स्वीकार कर रहे थे और प्रश्रय दे रहे थे, वह प्रकृति तुम्हें ग़लत रास्ते पर ले गयी और तुम्हारी प्रगति के मार्ग में बाधा बन कर खड़ी हो गयी। जब प्राण की कामना और अशान्ति को त्याग दिया जाता है, तब तुम्हारे अन्दर का चैत्य पुरुष आगे आता है और तब स्वयं प्राण बदलता है और स्वयं को आनन्द तथा घनिष्ठता से भरा अनुभव करता है। जब पुराना अप्रसन्न और अशान्त प्राण फिर ऊपर आता है तो तुम स्वयं को अयोग्य अनुभव करते हो, तुम्हें किसी भी चीज़ में रस नहीं मिलता। तुम्हें करना यह चाहिये कि जब यह वापिस आये तो तुम इसे स्वीकार न करो, श्रीमाँ के सामीप्य का फिर से आवाहन करो और चैत्य पुरुष को अपने अन्दर वर्धित होने दो। यदि अशान्ति और कामना का त्याग करते हुए तुम लगातार ऐसा करते रहो तो तुम्हारा प्राणिक भाग परिवर्तित हो जायेगा और साधना के योग्य बन जायेगा।

—'श्रीअरविन्द के पत्रों' से

सम्बन्धों के विषय में

मधुर माँ,

दो मानव सत्ताओं के बीच सबसे अच्छा सम्बन्ध कौन-सा है? माँ-बेटे का? भाई, मित्र या प्रेमी का?

सिद्धान्ततः सभी सम्बन्ध अच्छे हैं और हर एक शाश्वत के एक रूप को प्रकट करता है। लेकिन हर एक सम्बन्ध मानव स्वभाव के स्वार्थपूर्ण मिथ्यात्व के कारण विकृत होकर बुरा बन सकता है जो प्रेम के स्पन्दनों को शुद्ध रूप से प्रकट होने से रोकता है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६, पृ. ३१४-१५

तुम किसी के साथ हो। यह व्यक्ति तुमसे कुछ कहता है। तुम उससे उलटी बात कहते हो (यह प्रायः विरोध की भावना से होता है), और तुम बहस करना शुरू कर देते हो। स्वभावतः, तुम कभी किसी बिन्दु पर न पहुँच पाओगे, सिवा इसके कि यदि तुम बदमिज़ाज हो तो तुम झगड़ पड़ो। लेकिन यह करने की जगह, अपने ही विचारों और अपने ही शब्दों में बन्द रहने की जगह, अगर तुम अपने-आपसे कहो: "ज़रा ठहरो, मैं कोशिश करके देखता हूँ कि उसने मुझसे यह क्यों कहा। हाँ, उसने मुझसे यह क्यों कहा?" और तुम एकाग्र होते हो: "क्यों, क्यों, क्यों?" तुम वहीं खड़े रहते हो, बस उसी तरह, कोशिश करते हुए। दूसरा व्यक्ति बोलना जारी रखता है, है न?—और वह बहुत प्रसन्न है कि अब तुम उसका विरोध नहीं कर रहे! वह बहुत अधिक बोलता है और उसे विश्वास है कि उसने तुमसे मनवा लिया है। तब तुम धीरे-धीरे उस बात पर एकाग्र होते हो जो वह कह रहा है, और इस भावना के साथ एकाग्र होते हो कि धीरे-धीरे उसके शब्दों के द्वारा तुम उसके मन में प्रवेश कर रहे हो। जब तुम उसके सिर में प्रवेश करते हो तो अचानक तुम उसके सोचने की पद्धति में प्रवेश करते हो और उसके बाद, ज़रा कल्पना करो, तुम समझ जाते हो कि वह तुम्हारे साथ इस तरह क्यों बोल रहा है! और फिर, यदि तुम्हारी समझ काफी तेज़ है और तुमने अभी जो चीज़ समझी है उसे तुम, जो पहले से जानते थे, उसके साथ रखो तो तुम्हारे सामने दो तरीक़े एक साथ होते

हैं। अतः तुम ऐसे सत्य को पा सकते हो जो दोनों का समन्वय करता है। और तब तुमने सचमुच प्रगति की है। अपने विचारों को विस्तृत करने का सबसे अच्छा तरीक़ा यही है।

अगर तुम कोई विवाद शुरू कर रहे हो तो तुरन्त चुप हो जाओ। तुम्हें बिलकुल चुप होना चाहिये, कुछ भी न बोलो, और तब चीज़ को उस तरह देखने की कोशिश करो जैसे दूसरा आदमी देखता है—इससे तुम देखने का अपना तरीक़ा न भूलोगे—बिलकुल नहीं! लेकिन तुम दोनों को एक साथ रख सकोगे और तुम वास्तव में प्रगति कर लोगे, वास्तविक प्रगति।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. २४३-४४

... आलोचना करने, किसी के दोष निकालने, दूसरों की निन्दा करने (बहुधा जो एकदम ग़लत बात होती है) की प्रवृत्ति सचमुच व्यर्थ, फ़िज़ूल होती है, यह स्वयं तुम्हारे और दूसरों के लिए भी दूषित वातावरण पैदा कर देती है। और ऐसी कठोरता और इतनी घोर निन्दा क्यों भला? क्या हर एक व्यक्ति के अन्दर अपने दोष नहीं होते? तो वह दूसरों के दोष ढूँढ़ निकालने और उनकी निन्दा करने को इतना उत्सुक क्यों हो रहा है? कभी-कभी हम दूसरों का मूल्यांकन कर सकते हैं, लेकिन वह बिना सोचे-समझे या निन्दनीय भाव से कभी नहीं होना चाहिये।

CWSA खण्ड ३१, पृ. ३५१

मनुष्य हमेशा दूसरों के कार्य की तीव्र आलोचना करने में बहुत अधिक सक्षम होता है। उन्हीं समान भूलों को अपने अन्दर सुधारने के बजाय वह औरों को यह बताने में बड़ी कुशलता हासिल कर लेता है कि उन्हें चीज़ें कैसे करनी चाहियें या उन्हें क्या नहीं करना चाहिये। वास्तव में बहुधा हम बड़ी आसानी से उन्हीं भूलों को दूसरों में देखते हैं जो हमारे अन्दर होती हैं, लेकिन जिन्हें हम अपने अन्दर नहीं देख पाते। सचमुच मानव मन अपने बारे में सचेतन नहीं होता—इसी कारण योग में व्यक्ति को हमेशा अपने अन्दर झाँक कर देखना होता है कि अन्दर क्या चल रहा है और फिर अधिकाधिक सचेतन बनना होता है।

CWSA खण्ड ३१, पृ. ३५१

एक ऐसी स्थिति है जिसमें एक मामूली बातचीत से, जो तुम्हें साधारण जीवन के स्तर पर बने रहने के लिए बाध्य करती है, तुम्हें सिरदर्द हो जाता है, तुम्हारा पेट ख़राब हो जाता है और यदि वह जारी रहे तो उससे बुख़ार भी हो सकता है। निस्सन्देह, यहाँ मैं गप-शप जैसी बातचीत की चर्चा कर रही हूँ। मेरे ख़याल से थोड़े-से अपवादों को छोड़ कर सभी लोग इस आदत को प्रश्रय देते हैं और ऐसी चीज़ों के विषय में बातचीत करते हैं जिनके विषय में उन्हें मौन रहना चाहिये अथवा दूसरी चीज़ों के विषय में बकवास करते हैं। यह इतना स्वाभाविक हो जाता है कि उससे तुम्हें कोई दिक्कत नहीं होती। परन्तु तुम यदि इस तरह करना जारी रखो तो तुम अपनी चेतना को ऊपर उठने से पूरी तरह रोकते हो; तुम अपने-आपको साधारण चेतना के साथ लोहे की ज़ंजीर से बाँध देते हो और अवचेतना में कार्य सम्पन्न नहीं होता, यहाँ तक कि आरम्भ ही नहीं होता। जो लोग ऊपर उठना चाहते हैं उनके सामने पहले से ही पर्याप्त कठिनाइयाँ हैं, उन्हें बाहर से और बढ़ाने की आवश्यकता नहीं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. १८०-८१

तुम्हारा मित्र वह नहीं है जो तुम्हें तुम्हारे निचले-से-निचले स्तर पर आने, अपने साथ-साथ तुम्हें भी मूर्खताभरे काम करने और बुरी बातें करने के लिए उत्साहित करता है या जो तुम्हारे बुरे कामों की सराहना करता है, यह बिलकुल स्पष्ट है।... वस्तुतः, तुम्हें केवल उन्हीं व्यक्तियों को अपने मित्र के रूप में चुनना चाहिये जो तुमसे अधिक बुद्धिमान् हों, जिनकी संगति तुम्हें ऊँचा उठाये, अपने पर विजय पाने, प्रगति करने, अधिक अच्छा करने और स्पष्टतर रूप से देखने में सहायता करे।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ९, पृ. ६२, ६३

यह सच है कि दूसरों के साथ बहुत अधिक अन्तरंगता चेतना को नीचे गिरा सकती है, अगर दूसरों का मनोभाव सही न हो और अगर वे बहुत अधिक प्राण में रहें। सभी सम्बन्धों में तुम्हें करना यह चाहिये कि अन्तर्मुख रहो, एक तरह की अनासक्ति का भाव बनाये रखो और स्वयं को उन कठिनाइयों से विचलित नहीं होने दो जो तुम्हारे काम में उठती

हैं या लोगों की क्रियाओं से आती हैं; बस अपना नाता सच्ची क्रिया के साथ जोड़े रखो।
CWSA खण्ड ३१, पृ. ३२५

न हर्ष से न विषाद से, न सन्तोष से न असन्तोष से, न लोग जो कहते हैं या लोग जो करते हैं, न ही किसी बाहरी वस्तु से न किसी बाहरी क्रिया से—किसी भी चीज़ से अपने-आपको कभी विचलित न होने दो...
CWSA खण्ड ३१, पृ. ३३५

मान लो, कोई व्यक्ति तुम्हारा अपमान करता है; यदि इन अपमानों के सम्मुख (केवल बाहरी रूप में नहीं, मेरा मतलब है पूरी तरह से), किसी भी प्रकार उनसे प्रकम्पित या स्पृष्ट हुए बिना, तुम निश्चल बने रहो : तुम वहाँ एक ऐसी शक्ति के रूप में बने रहो जिसके विरुद्ध कोई कुछ नहीं कर सकता और तुम उत्तर न दो, कोई भी भाव व्यक्त न करो, एक भी शब्द न बोलो, अपने ऊपर निक्षिप्त सभी अपमानों से तुम, अन्दर और बाहर, पूर्ण रूप से अछूते बने रहो; तुम अपने हृदय की धड़कनों को एकदम शान्त-स्थिर बनाये रखो, अपने मस्तिष्क में विचारों को बिलकुल निश्चल और शान्त बनाये रखो और उन्हें ज़रा भी विक्षुब्ध न होने दो, अर्थात्, तुम्हारा मस्तिष्क तुरत उसी प्रकार के स्पन्दनों के द्वारा उत्तर न दे और तुम्हारी नाड़ियाँ अपनी शान्ति के लिए बदले में कुछ थप्पड़ देने की आवश्यकता से तन न गयी हों; यदि तुम इस प्रकार के बन सको तो कहा जा सकता है कि तुम्हारे अन्दर निष्क्रिय शक्ति है, और यह उस प्रकार की शक्ति से अनन्तगुना अधिक बलशाली है जो तुम्हें अपमान का अपमान के द्वारा, प्रहार का प्रहार के द्वारा और उत्तेजना का उत्तेजना के द्वारा उत्तर देने को बाध्य करती है। —'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. ४४०-४१

... तुम्हें जो करना है वह है—क्रिया के साथ-साथ भरपूर अभीप्सा, स्वयं का समर्पण, श्रीमाँ की क्रिया का अनुमोदन, बाक़ी सबका निष्कासन। और सब समय के संग-संग सम्पन्न कर दिया जायेगा; व्याकुल होने, उदासी में डूब जाने या धीरज खोने की कोई आवश्यकता नहीं है।—श्रीअरविन्द

दुःख-दर्द और समर्पण

वियोग के भाव के साथ ही कष्ट, दुःख, दुर्गति, अज्ञान और सभी अक्षमताएँ आयी हैं। केवल सम्पूर्ण आत्मदान में अपने-आपको भुला देने से ही और पूर्ण निवेदन के द्वारा ही दुःख ग़ायब हो सकता है और उसकी जगह एक ऐसा आनन्द ले सकता है जिसे कुछ भी छिपा न सके।

और जब इस जगत् में यह आनन्द स्थापित हो जाये तभी जगत् का सच्चा रूपान्तर हो सकेगा और एक नया जीवन, नयी सृष्टि, नयी उपलब्धि प्राप्त हो सकेगी। पहले चेतना में आनन्द स्थापित होना चाहिये, उसके बाद भौतिक रूपान्तर होगा; पहले नहीं।

सच्ची बात तो यह है कि दुनिया में 'विरोधी शक्ति' के साथ ही दुःख आया। और केवल आनन्द ही उसे हरा सकता है—और कुछ भी उसे निश्चित रूप से, सदा के लिए नहीं हरा सकता।

'आनन्द' ने ही सृजन किया है और 'आनन्द' ही सम्पन्न करेगा।

ध्यान दो कि मैं उस चीज़ की बात नहीं कर रही जिसे मनुष्य आनन्द कहते हैं, जो उसका विद्रूप तक नहीं है। मेरा ख़याल है कि जो आनन्द सुख, विस्मृति और उदासीनता से आता है, वह लोगों को रास्ते से भटका देने के लिए एक पैशाचिक अन्वेषण है।

मैं एक ऐसे आनन्द की बात कर रही हूँ जो पूर्ण शान्ति, छायाहीन प्रकाश, सामञ्जस्य, पूर्ण सौन्दर्य, अप्रतिरोध्य शक्ति है, वह आनन्द जो अपने सारतत्त्व, अपने 'संकल्प' और अपनी 'उपलब्धि' में स्वयं भागवत 'उपस्थिति' है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. ४३७-३८

तुम जितने अधिक उदास होओगे और रोना-धोना करोगे उतने ही अधिक मुझसे दूर होते जाओगे। भगवान् उदास नहीं हैं और भगवान् को पाने के लिए तुम्हें समस्त उदासी और समस्त भावुक दुर्बलता को अपने से बहुत दूर फेंक देना होगा।

—श्रीमाँ

शुभ्र श्वेत आत्मिक स्रोतों से उदित एक ज्वलन्त दिव्य प्रेम ने
तमस् की अज्ञ गहनताओं के कष्टों को मिटा दिया;
भगवती के अमर-स्मित में समस्त क्लेश समाप्त हो गया।

'सावित्री' से *—श्रीअरविन्द*

कोई कारण नहीं कि व्यक्ति अपने भविष्य के सम्बन्ध में ऐसी थोड़ी भी शंका करने लगे जिसका आधार विफलता के सिवाय और कोई न हो। 'क्ष' और 'य' हमेशा यही करते रहे हैं। और यही उनकी प्रगति में महान् बाधा डालने वाली चीज़ है। इसके स्थान पर, व्यक्ति को यदि दूसरे लोगों के अनुसार ही चलना हो तो वह ऐसे लोगों के उदाहरण से आशा का सन्देश क्यों नहीं ग्रहण करता जो सन्तुष्ट हैं और प्रगति कर रहे हैं। फिर भी यह सत्य है कि वे अपनी सफलता को उस तरह से प्रदर्शित नहीं करते जैसे अन्य लोग अपनी असफलताओं को करते हैं। परन्तु इसके सिवाय असफलता बहुत स्पष्ट भूलों और अधिकतर अविकारी एवं अश्रान्त अभीप्सा या प्रयत्न के अभाव के कारण आती है। साधक से जिस प्रयत्न की माँग की जाती है वह है अभीप्सा, त्याग और समर्पण का प्रयत्न। यदि इन तीनों को सम्पादित कर लिया जाये तो श्रीमाँ की कृपा से तुम्हारे अन्दर उनकी शक्ति की क्रिया द्वारा बाक़ी सब अपने-आप ही आ जायेगा। किन्तु इन तीनों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है समर्पण, जिसका पहला आवश्यक स्वरूप है कठिनाई के समय श्रद्धा, विश्वास और धैर्य रखना। ऐसा कोई नियम नहीं है कि विश्वास और भरोसा केवल तभी रह सकते हैं जब अभीप्सा मौजूद हो। इसके विपरीत, जड़ता के दबाव के कारण अभीप्सा न होने पर भी विश्वास, भरोसा और धैर्य रह सकते हैं। अभीप्सा के निष्क्रिय हो जाने पर भी यदि श्रद्धा और धैर्य मदद न करें तो इसका अर्थ है कि साधक एकमात्र अपने प्रयास पर ही भरोसा रख रहा है—इसका मतलब होगा, "ओह, मेरी अभीप्सा निष्फल हो गयी, तो अब मेरे लिए कोई आशा नहीं। जब मेरी ही अभीप्सा व्यर्थ हो गयी तो भला माताजी भी क्या कर सकती हैं?" इसके विपरीत, साधक को यह अनुभव करना चाहिये, "कोई बात नहीं, मेरी अभीप्सा वापस आ जायेगी। मैं जानता हूँ कि माताजी मेरे साथ हैं, चाहे मुझे उनका अनुभव न भी हो; वे मुझे अधिक-से-अधिक अँधेरे काल में से भी पार ले जायेंगी।" यही पूर्णतया सही वृत्ति है जो तुम्हें धारण करनी चाहिये। जो लोग इसे धारण करते हैं, अवसाद उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकता; यदि वह आये, फिर भी इसे निराश होकर लौट जाना पड़ेगा। यह तामसिक समर्पण नहीं है। तामसिक समर्पण तब होता है जब व्यक्ति कहता है, "मैं कुछ नहीं करूँगा, सब कुछ माँ ही करें। अभीप्सा,

परित्याग, समर्पण भी ज़रूरी नहीं है। यह सब भी मेरे अन्दर माँ ही करें।" इन दो वृत्तियों में बहुत भेद है। एक तो कामचोर की है जो कुछ भी नहीं करना चाहता, दूसरी उस साधक की है जो अच्छे-से-अच्छा काम करता है परन्तु जब परिस्थितियाँ उसके विरुद्ध हो जाती हैं तो वह सबके पीछे स्थित श्रीमाँ की शक्ति और उपस्थिति पर सदैव विश्वास रखता है और उस विश्वास द्वारा विरोधी शक्ति को व्यर्थ बना देता है तथा साधना की सक्रियता को लौटा लाता है।

—'श्रीअरविन्द के पत्रों' से

भगवान् उन्हीं को संरक्षण दे सकते हैं जो पूरे दिल से भगवान् के प्रति निष्ठावान् हैं, जो सचमुच साधना-भाव से रहते हैं और अपनी चेतना और तल्लीनता को भगवान् में और भगवान् की सेवा में लगाये रहते हैं। उदाहरण के लिए, कामना, अपनी पसन्द और सुविधाओं पर आग्रह, ढोंग और कपट और मिथ्यात्व की सभी गतिविधियाँ भागवत संरक्षण के मार्ग में खड़ी हुई बहुत बड़ी रुकावटें हैं। अगर तुम भगवान् पर अपनी इच्छा लादना चाहो तो यह ऐसा है मानों तुम एक बम को अपने ऊपर गिरने के लिए बुला रहे हो। मैं यह नहीं कहती कि चीज़ें इस तरह होने ही वाली हैं; लेकिन अगर लोग सचेतन और बहुत जागरूक नहीं हो जाते और सच्चे आध्यात्मिक जिज्ञासु के भाव से काम नहीं करते तो ऐसा होना बहुत सम्भव है। अगर यहाँ का मनोवैज्ञानिक वातावरण भी बाक़ी संसार के जैसा ही बना रहे, तो संकट, कष्ट और विनाश लाने वाली अन्धकारमयी 'शक्तियों' को यहाँ घुसने से रोकने के लिए संरक्षण की कोई निश्चित दीवार नहीं रह जाती।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १३, पृ. १२८-२९

पहली चीज़ जो करनी है... अपने अन्दर विक्षुब्ध करने वाली बेचैनी या अवसाद के विचारों को प्रवेश नहीं करने दो। तुम्हें बस यही करना है कि शान्त और विश्वस्त बने रहो, न चिन्ता करो, न अधीर बनो—पूरी तरह से शान्त रहो... चिन्ता करने की कोई बात ही नहीं है।...

CWSA खण्ड ३३, पृ. ५० —*श्रीअरविन्द*

'अहंकार ही बाधा है'

जीवन की समस्त कटुता हमेशा केवल अहंकार से आती है जो पदच्युत होने से इन्कार करता है।

*

जो कुछ होता है वह हमें वही एक ही पाठ पढ़ाने के लिए होता है : जब तक कि हम अपने अहंकार से पिण्ड न छुड़ा लें तब तक न तो हमारे लिए और न ही औरों के लिए शान्ति हो सकती है। और अहंकार के बिना जीवन एक अद्‌भुत चमत्कार बन जाता है!...

*

अहंकार के खेल के बिना कोई संघर्ष न होंगे; और अगर प्राण में नाटक करने की वृत्ति न हो तो जीवन में नाटकीय घटनाएँ न घटेंगी।

*

तुम्हारी कठिनाइयों का परिमाण तुम्हारे अहंकार का माप दिखाता है।

*

दिव्य माँ,

मेरा दानवी शत्रु, अहंकार, ठीक मेरे रास्ते में बैठा है और मुझे निकलने नहीं देता। मैं उसके साथ किस तरह लड़ूँ?

उसकी उपेक्षा करो और निकल जाओ।

*

अपने अहंकार पर विजय पाना आसान काम नहीं है।

भौतिक चेतना में उस पर विजय पा लेने के बाद भी, हम फिर से, ज़्यादा बढ़े-चढ़े रूप में, उसे आध्यात्मिक चेतना में पाते हैं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १४, पृ. २८४-८५

तुम्हारे अहंकार की आदत है कि अगर ज़रा-सी चीज़ भी उसे नाख़ुश कर दे तो वह तुम्हारी सत्ता के दरवाज़े अक्खड़, अविश्वासी दुर्भावना के लिए खोल देता है। वह सभी पवित्र और सुन्दर चीज़ों पर कीचड़ और गन्दगी फेंकने में अपना समय बिताता है, विशेषकर तुम्हारी अन्तरात्मा की अभीप्सा और भागवत कृपा से मिलने वाली सहायता पर।

अगर इसे जारी रहने दिया जाये तो इसका अन्त अनर्थ और विध्वंस में होना निश्चित है। इसे समाप्त करने के लिए सख़्ती से क़दम उठाने पड़ेंगे और उसके लिए तुम्हारी अन्तरात्मा के सहयोग की ज़रूरत है। उसे जाग उठना चाहिये और दृढ़ निश्चय के साथ इस अशुभ सत्ता के लिए द्वार बन्द करके अहंकार के विरुद्ध लड़ाई में भाग लेना चाहिये।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १५, पृ. २५

जो व्यक्ति अपने अहं में, अपने अहं के लिए और अपने अहं को सन्तुष्ट करने की आशा के साथ जीवन यापन करता है वह मूर्ख है। जब तक तुम अहं को अतिक्रम नहीं कर जाते, जब तक तुम चेतना की एक ऐसी स्थिति में नहीं पहुँच जाते जिसमें अहं के बने रहने का कोई कारण नहीं, तब तक तुम अपने लक्ष्य को प्राप्त करने की आशा नहीं कर सकते।

ऐसा लगता है कि व्यक्तिगत चेतना के निर्माण के लिए एक समय अहंकार का होना अनिवार्य था, पर अहंकार के साथ ही उत्पन्न हो जाती हैं सभी बाधाएँ, सभी दुःख-कष्ट, सभी कठिनाइयाँ, वे सभी चीज़ें जो अब हमें विपरीत और भगवद्-विरोधी शक्तियाँ प्रतीत होती हैं। परन्तु स्वयं ये शक्तियाँ भी आन्तरिक पवित्रता तथा अहंकार से मुक्ति प्राप्त करने के लिए आवश्यक थीं। अहंकार एक ही साथ उनकी क्रिया का परिणाम तथा उनके दीर्घकाल तक बने रहने का कारण है। जब अहंकार अदृश्य हो जायेगा तब विरोधी शक्तियाँ भी अदृश्य हो जायेंगी, क्योंकि संसार में उनके रहने का कोई कारण न होगा।

आन्तरिक मुक्ति, पूर्ण सच्चाई और पूर्ण पवित्रता प्राप्त होने के साथ-साथ सभी दुःख-कष्ट विलीन हो जायेंगे क्योंकि तब अन्तिम लक्ष्य की ओर चेतना की प्रगति होने के लिए उनकी कोई आवश्यकता नहीं रह जायेगी।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. २३७-३८

पूर्ण मानसिक सन्तुलन

जीवन की कठिनाइयों का सामना करने के लिए अनिवार्य

(श्रीमाँ द्वारा दिया गया पुष्प का आध्यात्मिक अर्थ)

वानस्पतिक नाम : Begonia

"महान् धैर्य का होना अनिवार्य है—ताकि इन अवस्थाओं से गुज़रा जा सके और आशंकित अथवा अशान्त न हुआ जाये—और साथ ही यह दृढ़ विश्वास अनिवार्य है कि सभी कठिनाइयों को जीत लिया जायेगा।"

CWSA खण्ड ३१, पृ. ४०७ —श्रीअरविन्द

'मैं कुछ नहीं जानता'

अगर तुम किसी सच्चे वैज्ञानिक से मिलो जिसने कठोर परिश्रम किया हो तो वह तुमसे कहेगा: "हम कुछ नहीं जानते। हम कल जो जानेंगे उसकी तुलना में आज जो जानते हैं वह कुछ भी नहीं है। इस वर्ष की खोजें अगले वर्ष पीछे छूट जायेंगी।" सच्चे वैज्ञानिक को मालूम है कि वह जितनी चीज़ें जानता है उनकी अपेक्षा वे चीज़ें कहीं ज़्यादा हैं जिन्हें वह नहीं जानता। और यह बात मानव क्रिया-कलाप की सभी शाखाओं के बारे में सच्ची है। मैंने कभी ऐसा वैज्ञानिक नहीं देखा जो सही अर्थ में वैज्ञानिक हो पर घमण्डी हो। मैंने कभी ऐसा व्यक्ति नहीं देखा जो योग्य हो पर जो कहता हो: "मैं सब कुछ जानता हूँ।" मैंने जिन लोगों को देखा है उन्होंने हमेशा स्वीकार किया है: "संक्षेप में, मैं कुछ नहीं जानता।" उसने जो कुछ किया है, उसे जो कुछ मिला है उस सबकी चर्चा करने के बाद वह शान्ति से कहता है: "आख़िर, मैं कुछ नहीं जानता।"

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. ३२-३३

तुम जानते हो, प्रकृति में तुमसे बहुत ज़्यादा कल्पना है! वह हमेशा नयी-नयी चीज़ों की कल्पना करती रहती है। ऐसा होना चाहिये क्योंकि वह हमेशा बदलती रहती है और सभी संयोजन हमेशा नये रहते हैं। विश्व में कोई दो सेकेण्ड एक समान नहीं होते। उसमें बहुत ज़्यादा कल्पना-शक्ति है। क्या तुमने इस बारे में कभी नहीं सोचा?... क्या सचमुच तुम्हारे लिए कभी कोई दो क्षण एक-से होते हैं? नहीं। तुम भली-भाँति जानते हो कि आज तुम वही नहीं हो जो कल थे और कल वही न रहोगे जो आज हो...। और अगर तुम केवल... दस वर्ष पीछे जाओ तो तुम अपने-आपको बिलकुल न पहचान पाओगे! तुम यह भी नहीं जानते कि तब तुम क्या सोचा करते थे, यदि यह मान भी लिया जाये कि तुम किसी चीज़ के बारे में सोचते थे!

अतः, कोई समस्या नहीं है। तुम जो कुछ कर सकते हो वह बस यही है: तुम्हें जो अनुभूति का क्षेत्र दिया गया है, जो बहुत ही सीमित है, उसकी सब सम्भावनाओं को देखने के लिए उसी में जाँचो, परखो। और तुम उसे लिखना शुरू कर सकते हो; तुम देखोगे कि इससे, तुरन्त ही, एक बड़ी-

सी पोथी बन जायेगी, केवल उस छोटे-से अनुभव-क्षेत्र में जो तुम्हारा है!

और तुम हो ही क्या?... 'शाश्वतकाल' में एक निमिष!

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. २५०-५१

... माँ, जब हम यह सोचने की कोशिश करते हैं कि हम बलहीन हैं, तब भी कोई चीज़ यह मानती है कि हम शक्तिशाली हैं। तो?

हाँ, ठीक है, हाँ, ठीक है! हाँ, सच्चा और निष्कपट होना बहुत कठिन है...। इसीलिए प्रहार बढ़ते जाते हैं और कभी-कभी भयंकर हो जाते हैं, क्योंकि यही एकमात्र चीज़ है जो तुम्हारी मूढ़ता को तोड़ती है। यही विपदाओं का औचित्य है। जब तुम तीव्र पीड़ाजनक स्थिति में होते हो तभी, जब तुम ऐसी चीज़ के सामने हो जिसका तुम पर गहरा असर पड़ता है, तभी तुम्हारी मूढ़ता ज़रा-सी पिघलती है। लेकिन जैसा कि तुमने कहा, जब कोई चीज़ पिघलती है तो उस समय भी कोई छोटी-सी चीज़ तुम्हारे अन्दर वैसी-की-वैसी बनी रह जाती है। इसलिए व्यथा इतने लम्बे समय तक चलती है...

गहराइयों तक यह जानने के लिए कि हम **कुछ भी नहीं** हैं, कि हम **कुछ भी नहीं** कर सकते, कि हमारा **अस्तित्व ही नहीं** है, कि **हम हैं ही नहीं**, कि भागवत 'चेतना' और 'कृपा' के बिना कोई सत्ता ही नहीं है, जीवन में कितने प्रहारों की ज़रूरत होती है। जिस क्षण तुम यह जान लेते हो, यह ख़तम हो जाती है; सारी कठिनाइयाँ चली जाती हैं। तभी, जब तुम इसे पूर्ण रूप से जान लो और कोई भी चीज़ इसका प्रतिरोध न करे... लेकिन उस मुहूर्त तक...। और इसमें बहुत समय लगता है।

... स्वाभाविक है, यह निर्भर करता है आन्तरिक बल, आन्तरिक सच्चाई और प्रगति की क्षमता पर, अनुभव से लाभ उठाने की क्षमता पर, और जैसा अभी मैंने कहा था, **न भूलने** पर। अगर तुम इतने भाग्यशाली हो कि भूलते नहीं, तो तुम तेज़ी से बढ़ सकते हो।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. ३६६-६७

विजयी सौन्दर्य

जीवन की कुरूपता का विलयन

(श्रीमाँ द्वारा दिया गया पुष्प का आध्यात्मिक अर्थ)

वानस्पतिक नाम : Hibiscus rosa-sinensis 'Grace Goo'

"हे बन्दी-तेजस्वी बल, भाग्य नियन्त्रित-पृथ्वी पर जन्मी जाति,
एक अनन्त विश्व में लघु यात्राओं के साहसी वीरो,
और एक वामन मानवता के बन्दियो,
कब तक तुम इस मन के गोलाकार पथों पर चक्कर खाते रहोगे
अपनी क्षुद्र अहम् सत्ता और नगण्य वस्तुओं से घिरे रहोगे?
क्योंकि एक रूपान्तरहीन क्षुद्रता के लिए तुम नहीं थे,"...

'सावित्री' से *—श्रीअरविन्द*

निश्चिति की ओर

... क्या तुम मुझे बता सकते हो कि कल क्या होने वाला है? मुझे नहीं लगता कि तुम बता सकते हो। हाँ, तुम यह तो कह ही सकते हो कि हम खायेंगे, सोयेंगे आदि सामान्य चीज़ें, लेकिन तुम यह नहीं कह सकते कि कोई अप्रत्याशित चीज़ घटेगी। क्यों? किसी ने कहा है : "इसके लिए विशेष आँख होनी चाहिये।" आकृतियों के बिना पूर्वदृष्टि सम्भव है : आकृतियों के बिना एक मानसिक ज्ञान भी होता है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १५, पृ. ३१९

यहाँ भी समाधान योग में ही मिलता है। यौगिक साधना के द्वारा हम केवल अपनी भवितव्यता को पहले से जान ही नहीं सकते, बल्कि उसे कुछ बदल भी सकते हैं, लगभग पूर्ण रूप से बदल सकते हैं। सबसे पहले, योग हमें यह सिखाता है कि हम एकमात्र सत्ता, एक सीधी-सादी चीज़ नहीं हैं, जिसकी केवल एक ही, सीधी-सादी और युक्तिसंगत भवितव्यता हो सकती है। हमें यह स्वीकार करना ही होगा कि अधिकतर मनुष्यों की भवितव्यता जटिल होती है, इतनी जटिल जो कभी-कभी असंगति की अवस्था तक पहुँच जाती है। क्या यह जटिलता ही वह चीज़ नहीं है जो हमें अप्रत्याशित और अनिर्दिष्ट की और फलतः अपूर्वदृष्ट की छाप देती है?

इस समस्या को हल करने के लिए हमें पहले यह जानना होगा कि... इस तरह जीवन-यापन करने की कला—सर्वोत्तम विधि—यह होगी कि हम स्वयं को हमेशा अपनी उच्चतम चेतना के अन्दर बनाये रखें और इस तरह अपने जीवन और कार्य में अपनी उच्चतम भवितव्यता को ही अन्य भवितव्यताओं के ऊपर प्राधान्य स्थापित करने दें। इस तरह हम कह सकते हैं, और इसमें भूल होने का कोई डर नहीं, कि हमेशा अपनी चेतना के शिखर पर रहो और तब तुम्हारे लिए वही होगा जो अच्छे-से-अच्छा होगा। परन्तु यह एक ऐसी चरम अवस्था है जिसे प्राप्त करना आसान नहीं है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १२, पृ. ६९-७०

केवल तभी, जब लोग सचमुच अपनी चेतना को बदलना चाहते हैं, उनके कार्य भी बदल सकते हैं।... जब हमारी चेतना बदलेगी तब हम

जानेंगे कि परिवर्तन क्या है।

बदलो...

१. घृणा को सामञ्जस्य में
२. ईर्ष्या को उदारता में
३. अज्ञान को ज्ञान में
४. अन्धकार को प्रकाश में
५. मिथ्यात्व को सत्य में
६. धूर्तता को भलाई में
७. युद्ध को शान्ति में
८. भय को अभय में
९. अनिश्चितता को निश्चिति में
१०. सन्देह को श्रद्धा में
११. अव्यवस्था को व्यवस्था में
१२. पराजय को जय में।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १५, पृ. २४९-५०

किसी "अनुभूति के नकारात्मक पक्ष" और "सकारात्मक पक्ष" का क्या अर्थ है?

आह, मेरे बच्चे, तुम्हारे अन्दर कुछ दोष होते हैं, है न, ऐसी चीज़ें जो प्रगति करने में बाधा देती हैं। तो, नकारात्मक पक्ष है कोशिश करके उन दोषों से पिण्ड छुड़ाना। कुछ ऐसी चीज़ें हैं जैसा तुम्हें होना, बनना चाहिये, ऐसे गुण जिन्हें चरितार्थ करने के लिए तुम्हें अपने अन्दर गढ़ना है; गढ़ने का यह पक्ष सकारात्मक पक्ष होता है।

तुम्हारे अन्दर कोई दोष है, उदाहरण के लिए, सच न बोलने की वृत्ति है। अब, मिथ्यात्व की इस आदत से, सत्य को न देखने और सत्य न बोलने की आदत से तुम अपनी चेतना से मिथ्यात्व के बहिष्कार द्वारा लड़ते हो और सत्य न बोलने की उस आदत को निकाल बाहर करने की कोशिश करते हो। इस चीज़ को करने के लिए तुम्हें अपने अन्दर केवल सच बोलने की आदत डालनी चाहिये। इस चीज़ को करने के लिए तुम्हें अपने

अन्दर सच को देखने और हमेशा सच बोलने की आदत डालनी चाहिये। एक नकारात्मक है : तुम दोष का परित्याग करते हो। दूसरी सकारात्मक है : तुम गुण की स्थापना करते हो। यह इस तरह है।

सभी चीज़ों के लिए यही बात है। उदाहरण के लिए, तुम्हारी सत्ता के किसी भाग में एक तरह के विद्रोह की आदत होती है, अज्ञान-दृप्त, अन्धकारमय विद्रोह की, ऊपर से जो कुछ आता है उसे अस्वीकार करने की आदत होती है। अतः, नकारात्मक पक्ष है उसके विरुद्ध लड़ना, उसे अपने को प्रकट करने से रोकना और अपने स्वभाव से उसे दूर फेंकना; और दूसरी तरफ़ तुम्हें निश्चित रूप से समर्पण, समझ, उत्सर्ग, आत्मसमर्पण और भागवत शक्तियों के साथ पूर्ण सहयोग के भाव की स्थापना करनी चाहिये। यह सकारात्मक पक्ष है। तुम समझ रहे हो?

वही बात फिर से : ऐसे व्यक्ति होते हैं जो क्रुद्ध हो जाते हैं... जिन्हें क्रोध के ताव आते हैं, जिन्हें ग़ुस्से की आदत होती है... व्यक्ति उस आदत के विरुद्ध लड़ता है, वह क्रुद्ध होना अस्वीकार कर देता है, अपनी सत्ता से क्रोध के उन स्पन्दनों को निकाल बाहर करता है, लेकिन इसके स्थान पर आनी चाहिये निर्विकार शान्ति, पूर्ण सहिष्णुता, दूसरों के दृष्टिकोण की समझ, स्पष्ट और शान्त दृष्टि, शान्त निर्णय—यह सकारात्मक पक्ष है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. २२५-२६

मधुर माँ,

क्रोध का अस्तित्व क्यों है?

शायद तुम यह जानना चाहते हो कि क्रोध कहाँ से आता है।

क्रोध प्राण पर लगे किसी अप्रिय आघात के प्रति उसकी उग्र प्रतिक्रिया है और जब उसमें शब्दों और विचारों का भी समावेश हो जाता है तो मन प्राण के प्रभाव को प्रत्युत्तर देता और उग्रता के साथ प्रतिक्रिया करता है।

क्रोध की कोई भी अभिव्यक्ति आत्म-संयम के अभाव का चिह्न है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६, पृ. ३७८

जब तुम तरल पदार्थ की तरह जीते हो

लेकिन जब तुम, कह सकते हैं, तरल पदार्थ की तरह जीते हो, यानी, तुम्हें यह भी पता नहीं होता कि तुम्हारे अन्दर क्या हो रहा है, तुम्हें कुछ थोड़ा-सा अस्पष्ट-सा पता होता है, अगर तुम सौ में से निन्यानबे बार अपने-आपसे पूछो: "मैंने ऐसा क्यों सोचा? मैंने ऐसा क्यों अनुभव किया?" या फिर: "मैंने ऐसा क्यों किया?" तो लगभग हमेशा एक ही उत्तर होता है: "मुझे नहीं मालूम, ऐसा ही आया था, बस।" यानी, तुम ज़रा भी सचेतन नहीं होते।

जब तुम औरों के साथ होते हो तो क्या तुम यह जान पाते हो कि कौन-सी चीज़ तुम्हारे अन्दर से आती है और कौन-सी औरों से? उनकी जीवन-पद्धति, उनके विशेष स्पन्दन किस हद तक तुम्हारे ऊपर कार्य करते हैं? तुम इसके बारे में कुछ भी नहीं जानते। तुम एक प्रकार की "लगभग" ऐसी चेतना में रहते हो जो अर्ध-जाग्रत्, अर्ध-सुप्त होती है, एक ऐसी चीज़ जो बहुत अस्पष्ट -सी होती है, जहाँ चीज़ों को पकड़ने के लिए तुम्हें इस तरह टटोलना पड़ता है। क्या तुम्हारे अन्दर यथार्थ, स्पष्ट और ठीक-ठीक धारणा है कि तुम्हारे अन्दर क्या चल रहा है, क्यों चल रहा है? और फिर, यह: उन स्पन्दनों का पता है जो तुम्हारे अन्दर बाहर से आते हैं और जो तुम्हारे अन्दर से उठते हैं? और फिर, जो औरों से आता है क्या तुम उस सबको बदल सकते हो? नयी दिशा दे सकते हो? तुम एक प्रकार की धुँधली तरलता में रहते हो, छोटी-मोटी चीज़ें अचानक तुम्हारी चेतना में रूप ले लेती हैं, तुमने उन्हें बस, क्षण-भर के लिए पकड़ लिया है; और यह इस तरह स्पष्ट है, मानों कोई प्रक्षेपक था, परदे पर कोई चीज़ गुज़र रही थी जो एक सेकेण्ड के लिए स्पष्ट हो गयी: और अगले ही क्षण हर चीज़ अस्पष्ट, अयथार्थ हो गयी। लेकिन तुम्हें इसका पता नहीं होता, क्योंकि तुमने कभी अपने-आपसे पूछा तक नहीं, क्योंकि तुम इसी तरह जीते हो। —'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. ३७९-८०

बहुत सुखी हैं वे जिन्होंने वस्तुओं की इस अस्त-व्यस्तता में,
... इस हृदय की उर्वर धरती पर रोप दिया है
आध्यात्मिक निश्चयता के एक लघु बीज को।
सबसे सुखी हैं वे जो निज धर्मावस्था पर चट्टान सम दृढ़ रहते हैं।
'सावित्री' से *—श्रीअरविन्द*

क्रोध और हिंसा

मेरा ख़याल है कि हमेशा तुम्हारा यही विचार रहा है कि किसी आवेश या गतिविधि को अभिव्यक्त करना उससे पिण्ड छुड़ाने का सबसे अच्छा बल्कि एकमात्र उपाय है, लेकिन यह एक ग़लत विचार है। यदि तुम क्रोध को व्यक्त करते हो तो तुम क्रोध के बार-बार आने की आदत को बढ़ाते और उसे मज़बूत बनाते हो। तुम उस आदत को न तो कम करते हो और न उससे पिण्ड ही छुड़ाते हो। प्रकृति में क्रोध की शक्ति को कम करने और बाद में उससे पूरी तरह पिण्ड छुड़ाने का सबसे पहला उपाय यही है कि उसको अभिव्यक्त करने से बिलकुल इन्कार करो; न क्रियाओं में, और न शब्दों में उसे प्रकट होने दो। इसके बाद तुम ज़्यादा सफलता के साथ उसे विचार और भावना से भी निकाल बाहर कर सकते हो। सभी ग़लत गतिविधियों के साथ यही बात है।

ये सभी गतियाँ बाहर से आती हैं, वैश्व निम्न प्रकृति से आती हैं या विरोधी शक्तियाँ तुम्हें सुझाव देती हैं और इन्हें तुम्हारे ऊपर फेंकती हैं। ये शक्तियाँ तुम्हारी आध्यात्मिक प्रगति के लिए विरोधी होती हैं। तुम्हारा इन्हें अपनी चीज़ मान लेना ग़लत तरीक़ा है, क्योंकि ऐसा करने से तुम उनके बार-बार आने की और अपने ऊपर उनकी पकड़ की शक्ति की सम्भावना को बढ़ाते हो। अगर तुम उन्हें अपना ही मान लो तो इससे उन्हें तुम्हारे अन्दर रहने का एक तरह का अधिकार मिल जाता है। अगर तुम उन्हें अपना न मानो तो उन्हें कोई अधिकार नहीं रहता और तुम्हारे अन्दर इन्हें दूर भगा देने की अधिक शक्ति पैदा हो सकती है। इस इच्छा-शक्ति के लिए तुम्हें यह अनुभव होना चाहिये कि यह तुम्हारी अपनी है। तुम्हें किसी भी ग़लत गति को स्वीकृति देने और उसे प्रवेश करने देने से इन्कार करना चाहिये। और अगर वह आ ही जाये तो उसे अभिव्यक्त किये बिना निकाल फेंकने की शक्ति तुम्हारे अन्दर होनी चाहिये।

निश्चय ही सबसे अच्छा उपाय यह होगा कि तुम माताजी और उनकी ज्योति तथा शक्ति के साथ अधिक सम्पर्क रख सको और केवल उसी चीज़ को स्वीकार करो और उसी चीज़ का अनुसरण करो जो उस उच्चतर शक्ति से आती है।

यह तथ्य ही कि क्रोध इतनी ज़ोर से आता है अपने-आपमें यह बताने के लिए काफ़ी है कि वह तुम्हारी अपनी चीज़ नहीं है बल्कि वह बाहर से आती है। यह बाहर की वैश्व प्रकृति से आने वाला एक झोंका है जो व्यक्तियों की सत्ता पर अधिकार करने की कोशिश करता है और उस सत्ता से आन्तरिक आत्मा की इच्छा के अनुसार नहीं बल्कि शक्ति की इस बाहरी इच्छा के अनुसार काम करवाता है। ये चीज़ें साधना में आती हैं क्योंकि साधक अपने-आपको निम्न प्रकृति से हटाने की, माताजी की ओर अभिमुख होने की, उनकी दिव्य चेतना और उच्चतर प्रकृति की ओर मुड़ने की कोशिश करता है, निम्न प्रकृति की शक्तियाँ नहीं चाहतीं कि ऐसा हो इसलिए वे अपना शासन फिर से पा लेने के लिए झपटती हैं। ज़रूरी है कि जब वे आयें तो अन्दर से शान्त रहो, माताजी को याद करो और उन्हें पुकारो, क्रोध या ऐसा जो कुछ भी आये उसे अस्वीकार करो, वह चाहे जब कभी या जिस तरह से आये उसे अस्वीकार करो। अगर इतना कर लो तो ये शक्तियाँ अपने आक्रमण की शक्ति को खोती जाती हैं। यह ज़्यादा आसान है अगर तुम उन्हें स्पष्ट रूप से बाहरी शक्तियों के रूप में लो और अपने लिए विजातीय अनुभव करो; अगर तुम इसे अनुभव न भी कर सको फिर भी जब वे प्रवेश करें तो मन के अन्दर यह विचार तो रहना ही चाहिये, और तुम्हें उन्हें अपनी प्रकृति के एक अंग के रूप में स्वीकार करने से एकदम इन्कार कर देना चाहिये।

*

यह सच है कि क्रोध और संघर्ष मनुष्य की प्राणिक प्रकृति में हैं और आसानी से नहीं जाते, लेकिन ज़रूरी यह है कि तुम्हारे अन्दर परिवर्तन करने के लिए इच्छा-शक्ति हो और साथ ही स्पष्ट दृष्टि हो कि ये चीज़ें जानी ही चाहियें। अगर वह इच्छा-शक्ति और दृष्टि हों तो अन्त में ये चीजें चली ही जायेंगी। यहाँ भी उसकी सबसे महत्त्वपूर्ण सहायता यह है कि चैत्य सत्ता अन्दर विकसित हो—इससे सबके प्रति दयालुता, धैर्य, उदारता विकसित होती हैं और व्यक्ति सभी चीज़ों को अपने अहंकार तथा सुख-दुःख, अपनी पसन्द या नापसन्द की दृष्टि से नहीं देखता। दूसरी सहायता है, आन्तरिक शान्ति का विकास जिसे बाहरी चीज़ें क्षुब्ध नहीं कर सकतीं। शान्ति के

साथ एक अचञ्चल विस्तार आता है जिसमें मनुष्य सब चीज़ों को एकमेव आत्मा की दृष्टि से देखता है, सभी व्यक्तियों को माताजी के बालक के रूप में और माताजी को अपने और सबके अन्दर निवास करते हुए देखता है। तुम्हारी साधना को इसी दिशा में गति करनी चाहिये, क्योंकि ये चीज़ें ऐसी हैं जो चैत्य और आध्यात्मिक चेतना के विकास के साथ आती हैं। तब बाहरी चीज़ों के प्रति ये कष्टप्रद प्रतिक्रियाएँ न आया करेंगी।

*

आन्तरिक चैत्य या आध्यात्मिक परिवर्तन ज़ोर-ज़बरदस्ती करके नहीं लाया जाता। यह चरित्र का कोई ऐसा परिवर्तन नहीं है कि साधकों के अन्दर करना पड़े, बल्कि यह अन्तरात्मा और चैत्य का वह परिवर्तन है जो मन, प्राण और शरीर पर शासन करता है। यहाँ पर मन और प्राण शासन नहीं करते। हिंसा इसका कठोर प्रतिरोध है। हिंसा मानसिक अहंकार, प्राणिक आवेश और कोप को अथवा क्रूरता को शासक बना देती है...।

*

'गीता-प्रबन्ध' में गीता में दिये गये सामान्य कर्म-योग की व्याख्या की गयी है जिसमें, किया गया कार्य सामान्य जीवन का कार्य तो है परन्तु उसमें एक आन्तरिक परिवर्तन होता है। वहाँ भी जिस हिंसा का उपयोग किया जाता है वह व्यक्तिगत हिंसा नहीं होती जिसे अहंकार-भरे भाव से किया गया हो, अपितु सामाजिक जीवन के व्यवस्थित भाव के रूप में होती है। कोई भी चीज़ आध्यात्मिक रूप से क्रोध, आवेश या प्राणिक उद्देश्य से की गयी किसी भी व्यक्तिगत हिंसा को उचित नहीं ठहरा सकती। हमारे योग में मनुष्यों का लक्ष्य सामान्य जीवन से ऊपर उठना ही है और इसमें हिंसा को एकदम पीछे छोड़ देना चाहिये।

—'श्रीअरविन्द के पत्रों' से

अच्छे काम के लिए सहयोग और परस्पर सद्भावना अनिवार्य हैं।

—श्रीमाँ

'पुरोधा' :

दैनन्दिनी

सितम्बर

१. हर क्षण अप्रत्याशित, अनपेक्षित, अज्ञात हमारे सामने रहता है और हमारे साथ जो कुछ होता है वह अधिकतर हमारी श्रद्धा की पवित्रता पर निर्भर होता है।

२. बालक के सरल विश्वास में बड़ी शक्ति होती है।

३. कठिनाइयों का सामना करने के लिए सबसे अच्छा तरीक़ा है, 'भागवत कृपा' पर स्थिर-अचञ्चल विश्वास।

४. हे प्रभु! कौन है जो तेरे सामने खड़ा होकर पूरी सच्चाई के साथ कह सके कि उसने कभी कोई भूल नहीं की। दिन में कितनी बार हम तेरे 'कार्य' के विरुद्ध अपराध करते हैं और हमेशा तेरी कृपा उन्हें मिटा देने के लिए आ जाती है।

५. हमेशा अपने समर्पण में एकाग्र रहो और अभीप्सा में सच्चे-निष्कपट रहो तो तुम सदा भगवान् की सहायता और उनके पथ-प्रदर्शन की उपस्थिति का अनुभव करोगे।

६. सहायता हमेशा मौजूद रहती है।
यह तो तुम्हें ही अपनी ग्रहणशीलता को जीवित-जाग्रत् रखना है। कोई मनुष्य जितना ग्रहण कर सकता है, भगवान् की सहायता उससे कहीं अधिक विशाल होती है।

७. भागवत कृपा कार्य करने के लिए हमेशा मौजूद है लेकिन तुम्हें उसे कार्य करने देना चाहिये, उसकी क्रिया का प्रतिरोध न करना चाहिये, एकमात्र आवश्यक शर्त है श्रद्धा। जब तुम्हें लगे कि आक्रमण हो रहा है, तो सहायता के लिए श्रीअरविन्द को और मुझे पुकारो। अगर तुम्हारी पुकार सच्ची है, (यानी, अगर तुम सच्चाई के साथ स्वस्थ होना चाहते हो) तो पुकार को उत्तर मिलेगा और भागवत कृपा तुम्हें स्वस्थ बना देगी।

८. ठीक उसी समय जब सब कुछ अधिक, और अधिक ख़राब होता प्रतीत होता है, तब हमें श्रद्धा की परम क्रिया अपनानी चाहिये और

यह जानना चाहिये कि भागवत कृपा कभी हमारा साथ न छोड़ेगी।

९. ऐसे बहुत कम लोग हैं जो भगवान् के प्रति अपनी श्रद्धा और अपने भरोसे की चट्टान पर दृढ़ता से खड़े रह सकते हैं।

१०. व्यक्ति जितना अधिक जानता है, उतना ही अधिक अनुभव करता है कि वह कुछ नहीं जानता।

११. केवल भागवत कृपा में अविचल विश्वास और श्रद्धा के साथ पूरी तरह से शान्त और निश्चल बने रहने से ही तुम परिस्थितियों को यथासम्भव अच्छे-से-अच्छा पा सकते हो। उन लोगों के लिए हमेशा अच्छे-से-अच्छा होता है जो भगवान् और केवल भगवान् पर ही पूरा भरोसा करते हैं।

१२. जब कभी, अपने जीवन में तुम्हें कठिनाई का सामना करना पड़े तो उसे प्रभु की कृपा के वरदान के रूप में लो और वह वही बन जायेगा।

१३. कभी न कहो, "मेरे पास भगवान् को देने के लिए कुछ भी नहीं है।" देने के लिए हमेशा कुछ-न-कुछ होता है, क्योंकि तुम हमेशा अपने-आपको अधिक अच्छे और अधिक पूर्ण रूप में दे सकते हो।

१४. भगवान् की सेवा से बढ़ कर और कोई हर्ष नहीं हो सकता।

१५. एकमात्र सहायता जो कोई ले सकता है और लेनी चाहिये वह है 'कृपा' की सहायता जो हर एक में उसकी सच्ची आवश्यकता के अनुसार अपने-आपको व्यक्त करती है।

१६. प्रेम की ऐसी प्यास होती है जिसे कोई भी मानवीय सम्बन्ध नहीं बुझा सकता। केवल भागवत प्रेम ही उसे सन्तुष्ट कर सकता है।

१७. प्रत्येक हृदय के अन्दर मधुरता है।
कटुता है एक भ्रम जो भागवत प्रेम के सूर्य तले पिघल जाता है।

१८. निश्चय ही अचञ्चलता तमस् नहीं है। वस्तुतः उचित वस्तु अचञ्चलता में ही की जा सकती है। मैं जिसे अचञ्चलता कहती हूँ वह है, किसी भी चीज़ से क्षुब्ध हुए बिना काम करना और किसी भी चीज़ से क्षुब्ध हुए बिना हर चीज़ का अवलोकन करना।

१९. अगर तुम्हारे अपने हृदय में शान्ति न हो तो तुम उसे और कहीं भी न पा सकोगे।

२०. अधिक-से-अधिक मान नीरवता में है।

२१. नये सिरे से भरे जाने के लिए बरतन को कभी तो ख़ाली होना चाहिये। जब हम अधिक महान् ग्रहणशीलता की तैयारी में होते हैं तो अपने-आपको ख़ाली अनुभव करते हैं।

२२. नम्रता और सच्चाई सबसे अच्छे रक्षक हैं। उनके बिना एक-एक पग ख़तरनाक है, उनके साथ विजय निश्चित है।

२३. भगवान् के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने का चुपचाप प्रसन्न रहने से बढ़ कर कोई और तरीक़ा नहीं है।

२४. निश्चय ही जब चारों ओर विश्वासघात फैला हो तो यही समय है जब तुम्हें सचमुच ईमानदार और निष्ठापूर्ण होना और तूफ़ान से अछूता और अविचलित रहना चाहिये।

२५. सच्ची अग्नि हमेशा गभीर शान्ति में जलती है, यह सर्वविजेता संकल्प की अग्नि है। पूर्ण समचित्तता में इसे अपने अन्दर बढ़ने दो।

२६. तुम्हें कोई चीज़ इसलिए नहीं छोड़ देनी चाहिये कि वह कठिन है, इसके विपरीत, चीज़ जितनी ज़्यादा कठिन हो उसमें सफलता पाने के लिए मनुष्य को उतना ही ज़्यादा कृतनिश्चय होना चाहिये।

२७. प्रगति करने और भयंकर आदतों से छुटकारा पाने के सभी सच्चे प्रयासों को भागवत कृपा का उत्तर और सहारा मिलता है और सक्रिय सहायता मिलती है—लेकिन प्रयास स्थायी होना चाहिये और अभीप्सा सच्ची।

२८. तुम जो आज नहीं कर पा रहे उसे कल चरितार्थ कर लोगे। डटे रहो और तुम्हारी विजय होगी।

एक दिन में कोई अपने स्वभाव पर विजय नहीं पाता। लेकिन धैर्यपूर्ण और सहनशील संकल्प द्वारा विजय निश्चित होती है।

२९. सामान्य रूप से कहें तो मनुष्य ऐसा प्राणी है जो अपने-आपको अतिशय गम्भीरता से लेता है। सभी परिस्थितियों में अपने ऊपर मुस्कुराना जानना, अपने दुःखों और मोह-भंग, महत्त्वाकांक्षाओं और पीड़ाओं, अपने क्रोध और विद्रोह पर मुस्कुरा सकना—यह स्वयं अपने ऊपर विजय पाने के लिए कितना सशक्त अस्त्र है।

३०. सब मिल कर सामञ्जस्य के साथ, हँसी-ख़ुशी, अपने भेदों को भूल कर काम करो।

श्रीमाँ के साथ पत्र-व्यवहार

(श्रीअरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा-केन्द्र की एक विद्यार्थिनी के नाम पत्र जिसने माताजी को सोलह वर्ष की उम्र में पत्र लिखना शुरू किया था।)

मधुर माँ,

प्राण को किसी अच्छी चीज़ में बदलने का क्या परिणाम होगा, दूसरे शब्दों में कहें तो क्या परिवर्तन होगा?

प्राण सभी बुरे आवेगों, समस्त दुष्टताओं, भीरुता, दुर्बलता और धन-लोलुपता का आधान है।

जब प्राण परिवर्तित हो जाता है तो आवेश बुरे होने की जगह अच्छे हो जाते हैं; दुष्टता भलाई में बदल जाती है और धन-लोलुपता की जगह ले लेती है उदारता; दुर्बलता ग़ायब हो जाती है, बल और सहनशक्ति उसका स्थान ले लेते हैं और भीरुता के स्थान पर साहस और ऊर्जा आ जाते हैं।

कर्म में शक्ति का निवास-स्थान है शुद्ध प्राण।

आशीर्वाद।

२० अक्तूबर १९६९

मधुर माँ,

मैंने अपने साथियों और मित्रों के साथ कभी इस विषय पर बातचीत नहीं की कि हम यहाँ धरती पर किसलिए हैं, परन्तु मैंने इस विषय में सोचा है और मुझे जो एकमात्र उत्तर मिला, वह यह है कि कम-से-कम हम यहाँ आश्रम में तो भगवान् को धरती पर प्रकट करने के लिए हैं। लेकिन एक प्रश्न बना रहता है, अगर सब कुछ भगवान् है, यहाँ तक कि विरोधी शक्तियाँ भी भगवान् हैं और अगर भगवान् ने ही सब कुछ रचा है और वे सब कुछ कर सकते हैं तो फिर वे इतना अधिक समय क्यों लगाते हैं और ऐसे पेचीदे रास्ते क्यों अपनाते हैं? उन्हें निश्चेतन चीज़ें बना कर फिर से उन्हें सचेतन बनाने में क्या मज़ा आता है? और ये सब दुर्भाग्य और दुःख-कष्ट क्यों हैं?

यह ऐसा प्रश्न है जिसे सभी चिन्तनशील मनुष्यों ने पूछा है।

कुछ लोगों ने समस्या को ज़्यादा गहराई में सोचा और अपने-आपसे पूछा है कि क्या मनुष्य, जो इतने छोटे और सीमित हैं, वे चीज़ों को उस रूप में देख सकते हैं जैसी वे सचमुच हैं; और ज़्यादा अच्छी तरह समझ सकने की आशा में उन्होंने दिव्य दृष्टि की खोज की है, एक सार्वभौम और सच्ची दृष्टि की, जो योग का परिणाम होती है। और जिन्हें अपने प्रयास में सफलता मिली है उन्होंने देखा है कि जब हम भगवान् के साथ एक हो जाते हैं तो वस्तुओं के बारे में हमारी दृष्टि बिलकुल बदल जाती है और वे सब एक ही निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि भगवान् के साथ एक हो जाओ, तब तुम समझोगे।

आशीर्वाद।

२८ अक्तूबर १९६९

मधुर माँ,

कहीं और जाने से व्यक्ति अपने आध्यात्मिक लाभ क्यों और कैसे खो बैठता है? व्यक्ति सचेतन प्रयास कर सकता है और आपका संरक्षण तो हमेशा रहता ही है, है न?

अपने माता-पिता के यहाँ जाने का अर्थ होता है उस प्रभाव की ओर लौटना जो ज़्यादा प्रबल होता है; और ऐसे उदाहरण बहुत कम हैं जहाँ माता-पिता तुम्हारी आध्यात्मिक प्रगति करने में सहायक होते हैं, क्योंकि वे सामान्यतः सांसारिक प्राप्ति में अधिक रस लेते हैं।

जिन माता-पिता को मूलतः आध्यात्मिक उपलब्धि में रस होता है वे अपने बच्चों को अपने पास नहीं बुलाते।

आशीर्वाद।

८ नवम्बर १९६९

मधुर माँ,

हमें खेल-कूद की प्रतियोगिताओं या प्रदर्शनों में क्यों भाग लेना चाहिये?

क्योंकि इससे अधिक प्रयास करने और इस तरह ज़्यादा तेज़ प्रगति करने का अवसर मिलता है।

१६ नवम्बर १९६९

मधुर माँ,

मैं अपनी सत्ता को एक करने की दिशा में लिये जाने वाले दूसरे चरण के बारे में जानना चाहूँगी। आपने मुझे पहले चरण के बारे में बतलाया था।

सत्ता को एक करने के काम में ये चीज़ें आती हैं :

१. अपनी चैत्य सत्ता के बारे में अभिज्ञ होना।

२. जैसे-जैसे तुम अपनी समस्त गतिविधियों, आवेशों, विचारों और इच्छा की क्रियाओं के बारे में अभिज्ञ होती जाओ, वैसे-वैसे उन्हें चैत्य सत्ता के आगे रख दो ताकि वह इन गतिविधियों, आवेशों, विचारों और इच्छा की क्रियाओं में से जिन्हें चाहे स्वीकार या अस्वीकार करे। जिन्हें स्वीकार कर लिया जायेगा उन्हें रखा और क्रियान्वित किया जायेगा और जिन्हें अस्वीकार किया जायेगा उन्हें चेतना से भगा दिया जायेगा ताकि वे कभी वापिस न आ पायें।

यह एक लम्बा और अति सावधानी से करने-लायक़ काम है और इसे समुचित ढंग से करने में बरसों लग सकते हैं।

आशीर्वाद।

८ दिसम्बर १९६९

मधुर माँ,

हमें दर्शन के दिन, ५ दिसम्बर, ९ दिसम्बर और अपना जन्मदिन कैसे मनाना चाहिये?

सामान्य ज्ञान की अपेक्षा अधिक सत्य ज्ञान की खोज में।

५ और ९ यह समझने में कि मृत्यु क्या है।

जन्मदिन जीवन के प्रयोजन का पता लगाने में।

आशीर्वाद।

१३ दिसम्बर १९६९

(आश्रम के क्रीड़ांगण में दुर्घटनाओं के बारे में)

मुझे नहीं लगता कि कहीं और की अपेक्षा यहाँ ज़्यादा दुर्घटनाएँ होती हैं। निश्चय ही यहाँ कम होनी चाहियें परन्तु उसके लिए यहाँ पढ़ने वाले बच्चों को चेतना में विकसित होने के लिए प्रयास करना चाहिये (यह ऐसी चीज़ है जो और कहीं की अपेक्षा यहाँ ज़्यादा आसानी से की जा सकती है)। दुर्भाग्यवश ऐसे कम ही हैं जो इसे करने का कष्ट उठाते हैं। इस तरह उन्हें यहाँ पर जो सुन्दर अवसर दिया गया है उसे वे खो बैठते हैं।

२२ दिसम्बर १९६९

मधुर माँ,

जिन लोगों ने अपनी चेतना को विकसित कर लिया है उनमें और जिन्होंने नहीं किया उनमें क्या फ़र्क है?

जिन्होंने कर लिया है, और उसे **अच्छी तरह** किया है, वे सचेतन हो जाते हैं और बाक़ी मानवजाति के विशाल बहुमत की भाँति अर्द्ध-चेतन रहते हैं।

चेतना, सत्य चेतना व्यक्ति के निजी स्वभाव पर और बड़ी हद तक घटनाओं पर, स्वामित्व पाने का अधिकार देती है।

२३ दिसम्बर १९६९

मधुर माँ,

आपके ख़याल से क्या आधी रात का अनुष्ठान देखने के लिए गिरजाघर जाना अच्छा है?

गिरजाघर क्यों जाओ? क्या तुम ईसाई हो या ईसाई होना चाहती हो?

श्रीअरविन्द ने अपना सारा जीवन मनुष्यों को धर्मों के बन्धन से छुड़ाने में लगाया। क्या तुम एक बचकानी, निरर्थक उत्सुकता के लिए उनके काम का विरोध करना चाहती हो?

अभी तक जितने भी गये हैं, बिना आज्ञा लिये गये हैं क्योंकि उन्हें एहसास था कि आज्ञा नहीं मिलेगी।

२५ दिसम्बर १९६९

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६, पृ. ४६३-४६७

फूलवाली

(स्व. ज्ञानवती गुप्ता, हम सबकी ज्ञान बहन, आश्रम की वरिष्ठ साधिकाओं में थीं। हमारे विद्यालय में हिन्दी की अध्यापिका भी थीं, संग-संग लेखिका भी थीं। उनका कहानी-संग्रह 'बढ़ते क़दम' पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ है। यहाँ हम उनकी एक हृदयस्पर्शी कहानी 'फूलवाली' दे रहे हैं जो पहले 'पुरोधा' में छपी थी। —सं.)

हम अभी नये-नये ही इस मुहल्ले में आये थे। पड़ोसी रामधनजी का लड़का सतीश मुझसे दो श्रेणी नीचे पढ़ता था सो सबसे पहले मैंने उससे मित्रता बनायी। उसने बातों ही बातों में बताया कि सवेरे वह नित्यप्रति अपनी माता के साथ देवीजी के मन्दिर में जाता है। यह बात तो मेरे लिए आकर्षण का विषय न थी पर जब उसने फूलवाली की बात बतायी तो मेरे मन में शरारत घूम गयी। घर में छोटे बहन-भाइयों की तो आफ़त आयी ही रहती थी पर स्कूल में अध्यापकों की भी नाक में दम था मेरे उत्पातों के कारण। पर मैं भी क्या करता! मैं बहुत चाहता कि मैं भी भले लड़कों की तरह आराम से बैठा करूँ पर हाथों को रोकता तो पैर चल पड़ते, पैरों को रोकता तो मुँह आप-ही आप खुल जाता, किसी तरह मुँह भी सी लेता तो टेढ़ी-मेढ़ी कुहनियाँ अपने-आप बिदक पड़तीं। भगवान् जाने मेरे शरीर में ऐसी क्या बिजली की धारा दौड़ती रहती थी कि कोई मुझे बिच्छू कहता, कोई नचार कहता, कोई कहता, पता नहीं इस लड़के की हड्डियों में क्या भरा है जो एक मिनट चैन से नहीं बैठ सकता। और मेरी माँ तो सदा यही कहती—प्रसाद चढ़ाऊँगी दस रुपये का अगर यह दुष्ट कहीं सीधा हो जाये। मैं चाहता कि किसी तरह हम सीधे हो जायें और वे दस रुपये हम ही भेंट चढ़वा लें, पर कहाँ जी!

'फूलवाली' की कहानी कह रहा था और शुरू कर दी अपनी ही रामकहानी। हाँ, तो मैंने सतीश को कह दिया कि मैं भी तेरे साथ चलूँगा। रात को मैंने माँ से कहा कि मुझे जल्दी उठा देना। उन्होंने पूछा—क्यों? मैंने बहुत गम्भीरता से कहा—सतीश रोज़ देवीजी के मन्दिर में जाता है, मैं भी उसके साथ जाया करूँगा। माँ बोलीं तो कुछ नहीं पर प्रसन्न नज़र आयीं। शायद उन्हें यह आशा बँधी कि चलो नये मुहल्ले में आकर लड़के का उद्धार तो होगा या शायद उन्हें देवीजी की कृपा ही नज़र आयी। ख़ैर,

मैं सवेरे उठ कर जल्दी-जल्दी तैयार हुआ। माँ ने प्रसन्न भाव से मेरी सहायता की और जाते समय दरवाज़े के पास आकर कहा—प्रसाद मेरे लिए भी ले आना। मैं बड़े चक्कर में पड़ गया; मैं कोई देवीजी के दर्शन के लिए थोड़े ही जा रहा था, मेरा उद्देश्य तो फूलवाली को तंग करना था।

हमसे पहले कुछ और लोग भी फूल ले रहे थे। मैंने देखा कि फूलवाली बहुत बूढ़ी और दुबली-सी है। अगर मैं उसके बहुत सारे फूल उठा कर भाग जाऊँ तो वह मुझे पकड़ भी न सकेगी। जब बड़े-बड़े लोग फूल लेकर मौन भाव में चले गये तो मैंने सतीश को आगे धकेला। फूलवाली ने हँसते हुए अपनी छोटी डलिया पर से गीला कपड़ा हटाते हुए कहा—आ गया बच्चा! और उसने दो सुन्दर गुलाब के अधखिले फूल उसके लिए निकाले। मेरे पास यह स्वर्ण अवसर था पर न जाने किसने मेरे हाथों को जकड़ लिया था। मैं फूलवाली की ओर देखता रहा। मैंने जीवन में पहली बार अपने-आपको ऐसी अवस्था में पाया। सतीश ने फूल लिये और मुझसे फूल लेने को कहा। मैं वहीं खड़ा रहा। इस पर फूलवाली ने कहा—क्यों बच्चा, कौन-सा फूल चाहिये तुझे? मैं तपाक से बोल पड़ा—मुझे तो सारे चाहियें। फूलवाली मुस्कुरायी और बोली—ले लो बेटा, ये सब उन्हीं के तो हैं पर तुम्हारे छोटे-छोटे हाथों में इतने फूल कहाँ आयेंगे? ये तो पूजा के फूल हैं बेटा। देवीजी दो फूल से भी उतनी ही प्रसन्न होती हैं जितनी ढेर सारे फूलों से। यह कहते हुए उसने मेरी अञ्जलि फूलों से भर दी। मैं आया था कुछ मज़ा लेने और यहाँ लेने के देने पड़ गये। मन्दिर में जाना पड़ा और वहाँ भी चुपचाप ही फूल चढ़ा देने पड़े।

घर आकर मुझे अपने पर बड़ी खीज आयी कि क्या एक फूलवाली ने मेरी बुद्धि कुण्ठित कर दी। मैं क्यों उसके सामने ऐसा बुद्धू बन गया! अच्छा कल सही। अब मैं रोज़ नयी-नयी तरक़ीब सोच कर जाता पर न जाने क्यों फूलवाली को देखते ही सब भूल जाता और जी यह करने लगा कि स्कूल न जाकर फूलवाली के पास ही आकर बैठ जाया करूँ। अब मैं सचमुच फूलवाली को तंग करने के उद्देश्य से नहीं बल्कि उसके स्नेह-भरे दो बोल सुनने को उसके पास जाया करता। एक दिन छोटी-सी लतिका ने पूछा—फूलवाली, तुम देवीजी को फूल चढ़ाने क्यों नहीं जातीं? तुम्हारे पास तो ढेर सारे फूल हैं! फूलवाली ने लतिका की ठुड्डी को हाथ लगाते

हुए कहा—मेरी रानी बिटिया, तुम्हारे नन्हें-नन्हें हाथों से फूल पाकर देवीजी बहुत ख़ुश होती हैं। लतिका सगर्व मुस्कुराती अपने फूलों को सम्भालती मन्दिर में चली गयी।

सत्यन् आया, उसने भी कहा—फूलवाली, फूलवाली, तुम देवीजी पर एक भी फूल नहीं चढ़ातीं, देवीजी तुमसे अप्रसन्न हो जायेंगी। "इतने फूल तो चढ़ाती हूँ बेटा!" "कहाँ, यह तो हमलोग चढ़ाते हैं, मैं क्या रोज़ देखता नहीं हूँ जब तुम्हारी छाबड़ी ख़ाली हो जाती है, तुम यहीं से नमस्कार करके चली जाती हो।" "मेरे राजा बेटे, ये सब फूल उन्हीं के हैं। मेरे अकेली के हाथों से फूल पाकर वे इतनी प्रसन्न न होंगी जितनी सैकड़ों हाथों से अपना शृंगार करा के प्रसन्न होती हैं।"

मेरा किशोर मन फूलवाली की सरल पर तथ्यपूर्ण बातें सुनता और भीतर ही भीतर कुछ विचारता।

एक दिन तो केशव ने जब पूछा कि फूलवाली तुम खाती कहाँ से हो? तुम तो सबसे पैसे भी नहीं लेतीं; जो अपनी मरज़ी से दे जाता है दे जाये। वह तो बहुत कम होता है। फूलवाली ने उसी सरलता से कहा—बेटा, फूलों से रोटी थोड़े ही खायी जाती है, फूल तो माँ की पूजा के लिए होते हैं। जिन्हें तुम थोड़े-से पैसे कहते हो वे तो माँ का प्रसाद हैं। माँ का प्रसाद तो कण भर भी होता है तो बहुत तृप्ति देता है। बेटा, प्रसाद पाने वाला व्यक्ति कभी भूखा नहीं रहता। भगवान् को कहीं-न-कहीं कोई-न-कोई भोग लगाता ही है और भगवान् उसमें से अपने लोगों के लिए प्रसाद अवश्य छोड़ते हैं यह उनका नियम है। बेटा, मेरा तो यही जी करता है कि मैं इसी तरह जन्म-जन्म तक फूलवाली ही बनी रहूँ। भीतर की ओर झाँकते हुए उसने कहा—देखो, माँ भी तो फूलवाली हैं। मेरी डलिया ख़ाली होती जाती है, माँ की भरती जाती है।

न जाने फूलवाली उस दिन कैसे भावावेश में थी जो हम बच्चों की समझ से परे की बातें कहे जा रही थी, पर शायद इसे बड़े लोग समझ भी नहीं सकते थे।

अगले दिन प्रातःकाल जब हम फूल लेने पहुँचे तो देखा फूलों की डलिया सजी रखी है और फूलवाली उसके पास सोयी पड़ी है। हमने दूर से ही पुकारा—फूलवाली, फूलवाली। विक्रम ने उसे जगाना चाहा पर पास

खड़े दो-तीन आदमियों ने विक्रम को अलग कर दिया। हम भौचक्के-से खड़े रह गये, आख़िर फूलवाली फूल क्यों नहीं देती, यह सो कैसे रही है! बाद में पता चला कि उस दिन वह हमेशा की नींद सो गयी थी।

आज इस घटना को कई वर्ष बीत गये पर जब कभी किसी देवालय में जाता हूँ और बाहर फूल रखे देखता हूँ तो ख़रीदना चाहते हुए भी ख़रीद नहीं पाता। फूलवाली कह जाती है—फूल रोटी के लिए नहीं होते बेटा, फूल पूजा के लिए होते हैं। फूलवाली की आवाज़ ही सुन पाता हूँ, उसे कहीं देख नहीं पाता।

—स्व. ज्ञानवती

जो है—जैसा है

जाने वाले को सजल विदा, आने वाले का स्वागत है।
परिवर्तन जीवन का क्रम है, युग के पीछे पल का श्रम है।
सृष्टिकार का चक्र न रुकता, गति में स्थिरता विभ्रम है।
वर्तमान गत पर आधारित, भावी इनका ही अनुगत है।

षट् ऋतुओं का पुनरावर्तन, सूर्य-चन्द्र का नित्यावर्तन।
पल-भर को कभी न रुकता, प्रकृति नटी का चञ्चल नर्तन।
वर्तमान गत पर आधारित, भावी इनका ही अनुगत है।

कभी खिलेंगे कभी झरेंगे, सुमन सदा शृंगार करेंगे,
नाश और निर्माण एक है, बीज वृक्ष के अन्तर्गत है।
वर्तमान गत पर आधारित, भावी इनका ही अनुगत है।

'मधुसञ्चय' से साभार —अज्ञात

Space on this page is offered by:

DEORAH SEVA NIDHI

Charitable Trust Dedicated to Service
(Founder trustee: Late Shri S. L. Deorah)
25, Ballygunge Park, Kolkata - 700 019

भय की आहुति दे डालो

सहसा ठण्डी-ठण्डी तेज़ हवाओं का अप्रिय स्पर्श पा मैं कच्ची नींद में चौंक पड़ा। दो-तीन बार पलकें झपकाईं और इर्द-गिर्द दृष्टि फेरी। पहले-पहल, सुनहले स्वप्नों से भीगे मेरे तन्द्रिल नयन उस ठोस और काले अन्धकार का सामना न कर सके। लेकिन कुछ देर तक उसे घूरने के बाद, एकाएक, खिड़की के बाहर, रत्नजटित स्वर्ग का एक टुकड़ा मेरे नयनों के आगे नाच उठा। ओह, कितनी रौनक, कितना लावण्य! सभी तारे टिमटिमा रहे थे। लगता था काली, गहरी निशा को मण्डित करने के लिए ब्रह्मा ने विशेष महार्घ रत्न चुने थे और चुन कर उन्हें सुव्यवस्थित करके रख दिया था। ऐसा प्रतीत होता था मानों धरा पर प्राणियों का सर्जन करके उन्हें सन्तोष न हुआ था; क्योंकि उन रत्नों को लेकर उन्होंने एक और सृष्टि रच डाली थी। इधर, पूरब की ओर एक नन्हें-से भालू का आकार दिखायी दे रहा था तो उधर कुछ ही दूरी पर एक शिकारी तैनात था। जिधर दृष्टि जाती उधर तरह-तरह के आकार खड़े थे। जानवर से लेकर मनुष्य तक—सभी विराजमान थे।

हवा का एक और तेज़ झोंका आया तो मेरा विचार-प्रवाह कट गया, मैं काँप उठा। आसमान के सभी तारे और ज़ोर से टिमटिमाने लगे। ऐसा लगता था मानों कोई दैत्य एक ही फूँक से सब तारों को बुझाने की कोशिश कर रहा था और वे बेचारे उसका विरोध करने के भरसक प्रयास में लगे थे।

लेकिन... यह क्या? अगले ही क्षण एक-एक करके सारे नक्षत्र बुझने लगे। आहिस्ता-आहिस्ता अन्धकार ने उनको हड़प लिया, वह उनके प्रकाशमय अस्तित्व को निगल गया। काले-काले विशालकाय मेघों ने दसों दिशाओं में डग बढ़ा दिये। पलक झपकाने की देर थी कि सर्वत्र अन्धकार ही अन्धकार छा गया और उसके साथ-ही-साथ, रात की नीरवता को चूर-चूर करती एक भयंकर कड़कड़ाहट सुनायी दी और बिजली कौंधी। पल-भर के लिए सब कुछ प्रकाशित हो गया, लेकिन अगले ही क्षण फिर से अन्धकार का साम्राज्य! और... मूसलाधार बारिश का भयावह शोर... सचमुच तूफ़ान पूरे ज़ोरों पर था।...

*

डर मनुष्य का सबसे भयंकर शत्रु है। वह सुन्दर को कुरूप बना देता है, मनुष्य को सत्यवादी बनने से रोकता है, वीरों में वीर को कायर बना डालता है। वह एक बलवान् विरोधी शक्ति है जो धरा को अपने वश में करने का दृढ़ प्रयास कर रही है। वह उस दिन की प्रतीक्षा में है जब वह सभी सकारात्मक चीज़ों को हड़प लेगी ताकि सम्पूर्ण धरा पर उसी का राज्य हो सके।

लेकिन सब चीज़ों को जन्म देने वाले परमात्मा अपनी सृष्टि की रक्षा करते हैं। उनका विधान है सन्तुलन।

एक ओर यदि हैं लोभ, मिथ्यात्व, ईर्ष्या, अन्धकार और कुरूपता जैसी विरोधी शक्तियाँ जो घमण्ड में आकर अपने-आपको सृष्टि का प्रभु मान बैठी हैं, और भगवान् को मानने से साफ़ इन्कार करती हैं, तो दूसरी ओर हैं भगवान् की ओर जाने वाले मार्ग को प्रशस्त करने वाले प्रेम, सत्य, प्रकाश, आनन्द और सौन्दर्य।

जब अन्धकार दूर-दूर तक फैल जाता है और धरा को प्रकाश नहीं दिखायी देता तो वह भगवान् को पुकारती है और वे तुरन्त उसकी रक्षा करने के लिए उसके वक्षस्थल में प्रकाश की एक चिनगारी बो देते हैं।

जब मिथ्यात्व डग बढ़ाने लगे तो भगवान् सत्य के शस्त्र से उसकी प्रगति को रोक देते हैं।

अगर हम आँखें खोल कर देखें तो साधारण जीवन में ऐसे सैकड़ों उदाहरण मिल जायेंगे जहाँ हम जान-बूझकर आँखों पर पट्टी बाँध कर चलना पसन्द करते हैं।

*

अपनी आँखों के आगे वह भयावह दृश्य देख मैं मानों वहीं जम गया। मेरे रोम-रोम में एक तीव्र स्पन्दन दौड़ गया—भय का।

गरजते बादल का शोर, चुँधियाने वाली बिजली के कोड़े, चीखती हुई, पागलों की तरह दौड़ी जाती तेज़ हवाएँ और ऊपर से मूसलाधार वर्षा!

मेरे दिल की धड़कन तीव्र होती जा रही थी, मन में एक-से-एक भयावह विचार चक्कर काट रहे थे, मेरा अंग-प्रत्यंग डर से सिहर रहा था।

क्या भगवान् ने धरती को भुला दिया था? शायद इसीलिए वह किसी

दैत्य के चंगुल में जा फँसी थी जो दया नाम की चीज़ से बिलकुल अपरिचित है, उसके पत्थर जैसे हृदय को तड़पती धरा को देख कर आनन्द मिल रहा था। बादलों का गर्जन था उसका अट्टहास और बिजली की कौंध उसकी क्रूरता-भरी आँखों की चमक...

कल्पनाओं से ज़रा छुट्टी मिली तो मैंने देखा, मैं अपने-आपको समझाने की कोशिश कर रहा था, "इसमें डरने की क्या बात है? कायर कहीं के! बस, ज़रा-से तूफ़ान से डर गये? अगर तुम्हें अपने देश के लिए लड़ना पड़े तो क्या युद्धक्षेत्र से नौ दो ग्यारह हो जाओगे? आख़िर साहस नाम की भी तो कोई चीज़ होती है!"

लेकिन उपदेश की बूँदें चिकने घड़े पर गिर रही थीं। मैं अपने पलंग पर सिकुड़ा-सिमटा, मानव होते हुए भी भीगी बिल्ली बना बैठा था, मन में सोच रहा था कि अभय अमरता है और भय विनाश। मैं टूट रहा हूँ।

मैंने आँखें मूँद कर उस दृश्य को ओझल करना चाहा, लेकिन बिजली की चमकती सर्पिल रेखा मेरे मुँदे नयनों के आगे भी नाचती रही। इस पर तुर्रा यह कि कल्पना फिर से लौट आयी और लगी नये-नये महल बनाने।

दूसरी ओर मैंने सोचा, "इस निराले भय का क्या कारण हो सकता है? बिना विरोध किये मैं उसे क्यों अपने ऊपर अधिकार पा लेने देता हूँ? यह तो बहुत बुरी बात है। मेरी ओर से विरोध तो होना ही चाहिये। भय दबे पैरों घुस आता है और मैं चूँ तक नहीं करता। इस तरह तो इसका परिवार बढ़ता ही जायेगा। हाँ, याद आ गया, भय के कीटाणु अँधेरे में ही पनप सकते हैं। श्रद्धा का प्रकाश आया नहीं कि सब समाप्त।"

यह सोच कर मैंने श्रद्धा की अग्नि में भय की आहुति दे डाली। मुझे ऐसा लगा मानों मेरे कन्धों से कोई भारी बोझ हटा दिया गया है। मेरा मन शान्त होने लगा। मेरी देह, भय के पंजों से मुक्त, आहिस्ता-आहिस्ता शिथिल होने लगी। मैंने अपनी नज़र बाहर, आसमान की तरफ़ घुमाई। वर्षा अभी तक हो रही थी। बादल और ज़ोर से गरज रहे थे, बिजली चमक रही थी, लेकिन मुझे डर न लग रहा था।

मेरे ओठों पर एक मुस्कान लहरा उठी और मैंने सोचा, "क्या, मैं इससे डरा करता था? कितना सुन्दर है यह दृश्य! ब्रह्मा सचमुच कलाकार हैं, यह कितना सजीव और मनोहर चित्र आँका है उन्होंने!" मैं धीरे-धीरे उठ

खड़ा हुआ और खिड़की की ओर बढ़ने लगा...

*

आज भी, जब वर्षा होती है तो मैं घर पर नहीं टिक सकता। कभी-कदास बैठूँ भी तो दम घुटने लगता है और मैं तुरन्त बाहर निकल पड़ता हूँ। अपने शरीर पर पानी का शीतल और सुखद स्पर्श पाकर मैं पुलकित हो उठता हूँ, बिजली की नाचती, चमकती रेखा कितनी मनोहर प्रतीत होती है, बादलों का गर्जन मानों बधावे बजाता है।

—स्व. रवीन्द्रजी

श्रीअरविन्द सोसायटी के सभी सदस्यों के लिए सूचना

जैसा कि आप सभी जानते हैं, सन् १९२० में श्रीमाँ हमेशा के लिए पॉण्डिचेरी आ गयी थीं। २४ अप्रैल २०२० उनके पुनीत आगमन का शताब्दी-दिवस होगा। इस महान् अवसर के शुभोपलक्ष्य में श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी, एक स्मारिका निकालना चाहती है। इसके लिए हम ऐसी सामग्री इकट्ठा करने के इच्छुक हैं जिसमें श्रीमाँ का हस्तलेख अथवा हस्ताक्षर इत्यादि हों। जिनके पास ऐसी वस्तुएँ हों या जिन्हें उपलब्ध हों, उनसे निवेदन है कि वे कृपया हमारे साथ उन्हें बाँटें। साथ ही, अगर आपकी दृष्टि में कोई भी ऐसी वस्तु आये जिसका श्रीमाँ के साथ सीधा सम्बन्ध रहा हो, वह भी हमारे पास आप सीधा भेज सकते हैं। ऐसी सामग्रियों की स्कैन की गयी (scanned) प्रतियाँ निम्नलिखित 'ई मेल' पतों पर भेजी जा सकती हैं :

vijay@aurosociety.org

pradeep@aurosociety.org

जो सुख पाया लूगड़ी में...!

('जो सुख पाया लूगड़ी में'—एक ऐसी कहानी जिसका सन्ध्या-वन्दन की भाँति कई बार पारायण हो सकता है।—सं)

श्रीकृष्ण की अनन्य उपासिका, जात की गूजरी वह नित-प्रतिदिन मन्दिर में अपने कृष्ण कन्हैया के लिए दूध का चढ़ावा ज़रूर ले जाती। सबसे पहले उनके लिए प्रसाद निकालती और बाक़ी का दूध वहीं गाँव में बेच कर अपनी जीवन-नैया खेती। लेकिन वह ग़रीब गूजरी, चढ़ावे के बाद बचे दूध के उसे इतने पैसे न मिलते कि दो वक्त का खाना भी रोज़ जुटा पाये, अतः, मन्दिर जाते समय गाँव की नदी से थोड़ा-सा जल भी दूध में सहज रूप से मिला लेती। अपने प्रभु की आराधना में मस्त वह बाक़ी समय अपनी कुटिया में बाल-गोपाल के भजन-कीर्तन करके बिताती। कृष्ण कन्हैया तो अपने भक्तों की टोह में रहते ही हैं, नित नये-नये रूपों में कभी भक्तिन के सपनों में तो कभी साक्षात् ही प्रकट हो उठते और वह ग़रीब गूजरी संसार की सबसे धनी स्त्री हो जाती।

लेकिन एक दिन उस सुन्दर जीवन-क्रम में एक रोड़ा आ अटका। नदी के जल के साथ-साथ एक छोटी-सी मछली दूध में आ गयी और संयोगवश वह कन्हैया के चढ़ावे में चली गयी। दूध पलटते समय मन्दिर के गोसाईं की दृष्टि उस मछली पर पड़ गयी और आगबबूला होकर उसने दूध वापिस कर गूजरी को ख़ूब डाँटा-फटकारा और मन्दिर में उसका प्रवेश भी निषिद्ध हो गया।

गूजरी पर तो आसमान फट कर टूट पड़ा। रोती-कलपती बेसुध अवस्था में किसी तरह कुटिया तक पहुँची और अन्दर जाते ही मूर्च्छित हो ज़मीन पर गिर पड़ी। जब-जब होश आता रो उठती—"ठाकुर, मुझसे बहुत बड़ा अपराध हुआ, मुझे क्षमा करो। दूध में पानी तो मैं रोज़ मिलाती हूँ यह तुमसे कहाँ छिपा है, न मिलाऊँ तो गुज़ारा कैसे हो? लेकिन प्रभु, आज तक तो तुमने कोई आपत्ति की नहीं, रोज़ प्रेम से पीते रहे। हाँ, मेरा दोष यह था कि पानी छान कर नहीं मिलाया, नहीं तो यह भूल कभी न होती। लेकिन तुम्हारे मन्दिर के गोसाईं ने तो पानी मिलाने पर मुझे इतनी खरी-

खोटी सुनायी और तुम कुछ न बोले!! ठाकुर! अगर यही मेरा अपराध है तो मैं प्रतिज्ञा करती हूँ कि अब कभी ऐसा बुरा काम न करूँगी भले भूखे पेट सो रहूँगी। लेकिन अगर तुम मुझसे यूँ ही रूठे रहोगे, मेरा चढ़ावा स्वीकार न करोगे तो मैं भी अन्न-जल त्याग यहीं अपने प्राण तज दूँगी।"

इस तरह प्रलाप करते-करते साँझ घिर आयी और तभी गूजरी के कानों में गूँज उठा किसी के मधुर कण्ठ का स्वर—"माई, ओ माई।" गूजरी झटपट उठ बैठी, देखा, द्वार पर खड़ा एक सुदर्शन लेकिन थका हुआ युवक अन्दर कुटिया में झाँक रहा है। गेरुआ वस्त्र पहने उस मनमोहक पुरुष को देख गूजरी की आँखें जुड़ा गयीं। क्षण-भर के लिए वह शोक-सागर से उबर आयी। अदबदा कर उठ खड़ी हुई, पूछा—"कौन हो तुम बेटे, बाहर क्यों खड़े हो, भीतर आ जाओ। इस गाँव में पहले तो तुम्हें कभी देखा नहीं।"

युवक अन्दर आकर बैठ गया, बोला—"मैया, ब्रजवासी मैं यहाँ मदनमोहन के दर्शन करने आया हूँ। पट बन्द हो चुके हैं, थक कर चूर-चूर हो गया हूँ। कल सवेरे दर्शन करके ब्रज वापिस लौट जाऊँगा। रात भर सोने की जगह दे दे तो तेरा आभारी रहूँगा।"

गूजरी के शरीर में प्रसन्नता की लहर दौड़ गयी, दुःख का कुहासा मानों अपने-आप छँटने लगा, बोली—"अरे! यह भी कोई पूछने की बात है बेटे! घर तुम्हारा है। आते ही न जाने तुमने जादू की यह कैसी धूप बिखेर दी कि मेरे दुःख के सारे बादल तितर-बितर होने लगे। आओ बेटा, दूर से आये हो, भोजन क्या करोगे?"

"माई! मैं दुग्धाहारी हूँ, दूध के सिवा और कुछ नहीं लेता। तनिक दूध हो तो वही दे दे, पीकर सो जाऊँगा।"

दूध की बात सुनते ही गूजरी की आँखें डबडबा उठीं, हृदय भर आया, फिर अपने-आपको सम्भालते हुए बोली—"पुत्र, दूध तो है पर सवेरे का बासी है। तू ज़रा ठहर, अभी गाय को सानी देकर थोड़ा ताज़ा दूध दुह लाती हूँ।"

"अरे मैया, नहीं, नहीं। उसमें तो घण्टों लग जायेंगे। सचमुच सवेरे का भूखा-प्यासा हूँ, दूध का नाम लेकर तो तूने मुझे अधीर बना दिया। झटपट वही दे दे, गैया तू बाद में दुहती रहना।"

वृद्धा की डबडबायी आँखें छलक उठीं, बोली, "बेटा, वह पानी मिला

दूध है, उसमें नदी की एक छोटी मछली भी आ गयी थी।"

"माई, अब छान कर वही मुझे दे दे, भूख सही नहीं जाती।" युवक बोला।

"अरे बेटा, ज़रा औटा तो लूँ। सवेरे जल्दी में मन्दिर में यूँ ही ले गयी थी।" गूजरी ने आग्रह किया। इधर युवक का दुराग्रह भी कम न था। ज़रा खिन्न स्वर में बोल उठा—"अरे मैया, तू मुझे भूखों मारेगी क्या? जल्दी से कच्चा दूध दे दे वरना मैं यहीं दम तोड़े देता हूँ।"

गूजरी को काटो तो खून नहीं। कैसी बात कर बैठा यह युवक! दौड़ी-दौड़ी गयी, झटपट दूध छान कर उलटे पैरों लौट आयी। इधर दूध पीकर युवक का मुरझाया चेहरा खिल उठा, कान्ति से जगमगा उठा, तृप्त होकर बोला—"मैया, कितना स्वादिष्ट दूध है, तू यूँ ही न जाने क्या-क्या कह रही थी। अब तो मेरी आँखों में नींद उतर आयी है।" इतना कहते न कहते वह युवक वहीं सो गया।

गूजरी अकेली हो गयी तो दिन भर की क्लान्ति, दुःख और शोक ने उसे फिर से आ घेरा। जाड़े के दिन थे, भूखे पेट उसकी आँखों में नींद कहाँ? जाड़ा बढ़ने लगा तो अपनी लूगड़ी युवक को ओढ़ा कर आ गयी। रात के अन्तिम पहर ज्यों ही आँख लगी कि कृष्ण कन्हैया को खड़ा पाया। मदनमोहन उलाहना-भरे स्वर में बोल उठे—"यह क्या मैया, मुझे भूखों मारेगी क्या? गोसाईं की बात का बुरा मान रूठ कर चली आयी, ख़ुद पेट में अन्न का एक दाना तक न डाला और मुझे दूध पीने यहाँ तक खींच लायी। अरे माई! माँ भूखी रहे तो क्या बेटा अन्न-जल ग्रहण कर सकता है? उठ, मैं दूध पी चुका अब तू भी अपना व्रत तोड़ कुछ खा-पी ले। और देख माँ, रोज़ सवेरे दूध की प्रतीक्षा में मैं व्याकुल रहता हूँ, उसी से तृप्ति मिलती है मुझे। अपना नियम तू कभी न तोड़ना, मन्दिर का गोसाईं भी तुझे कुछ न कहेगा।"

गूजरी हड़बड़ा कर उठ बैठी। वह सपना नहीं सच था! देखा, युवक तो कुटिया में कहीं न था, सचमुच भेस बदल कर कृष्ण कन्हैया ही उसकी कुटिया में पधारे थे!! गूजरी का रोम-रोम हर्ष और आह्लाद का सागर बन उठा। झटपट दो टिक्कड़ बनाये और मदनमोहन का भोग लगा कर गुड़ के साथ आनन्दपूर्वक खाती रही और कृतज्ञता उसकी आँखों से झर-

झर कर बहती रही।

थोड़ी देर में सवेरा हो गया। गूजरी ने देखा कि कृष्ण कन्हैया उसकी लूगड़ी ओढ़ अपना पीताम्बर कुटिया में ही छोड़ गये!!

इधर मन्दिर के पट खुलते ही पुजारी ने मदनमोहन को लूगड़ी ओढ़े देखा तो आश्चर्य के सागर में डूब गया—"प्रभु! तुमने अवश्य फिर कोई लीला की है, लेकिन इसका रहस्य मेरी समझ में नहीं आ रहा..."

रहस्योद्घाटन के लिए गूजरी मन्दिर के द्वार पर खड़ी पुजारी जी से कह रही थी—"गुसाईं महाराज, देखी तुमने प्रभु की लीला और माया। लो, उनका यह पीताम्बर, कल उनसे भूल हो गयी। पीताम्बर मेरे घर छोड़ आये और मेरी लूगड़ी ले आये। तुमने तो कल सवेरे मुझे धकिया ही दिया था, लेकिन भूखा-प्यासा मेरा कन्हाई दूध के वास्ते मेरी कुटिया तक चला आया।"

पुजारी उस देवी के सामने बिछ गये। अपने-आपको धिक्कारने लगे —"भक्त और भगवान् के बीच मैंने यह कैसा हस्तक्षेप कर डाला? मैं भक्तिहीन, क्या समझूँ प्रेम के इस अटूट बन्धन को। तुम्हारे भक्त-हृदय को ठेस पहुँचा कर मैंने कितना बड़ा अपराध कर डाला देवि! मुझे क्षमा कर दो।" गूजरी के चरणों में रो-रो कर गिर रहे थे पुजारी, लेकिन उनका यह प्रलाप उनके हृदय का वह भक्ति-सागर था जो भक्त में भगवान् के दर्शन पा, बाँध तोड़ कर निर्बाध बह चला था।

गूजरी भी क्या कम भावावेश में थी? आनन्द और भक्ति के सागर में हिलोरें लेती हुई कह रही थी—"गुसाईंजी, देखी तुमने बालगोपाल की चतुराई! अपना पीताम्बर मेरी कुटिया में भूले कहाँ, वह तो जान-बूझकर मेरी फटी-चीथड़ी लूगड़ी उठा लाये। भक्त को यूँ सम्मान देना तो इनकी पुरानी आदत है।"

मूर्ति में विराजमान मदनमोहन धीरे-धीरे मुस्कुरा कर मानों कह रहे थे—"अरे मैया, तू क्या जाने! अपने प्राणों से भी प्रिय तेरी लूगड़ी ओढ़ने में जो सुख मुझे मिला वह इस पीताम्बर में कहाँ...!"

'पुरोधा', अप्रैल २००७ से —वन्दना

बोध-कथा :

भारत स्वर्ग-समान क्यों?

फ़ाहियान नाम का चीनी यात्री हज़ारों वर्ष पहले भारत घूमने आया था। उस समय भारत नैतिक और भौतिक दोनों ही दृष्टियों से धनी था। चोरों का डर नहीं था, इसलिए घरों में ताले नहीं लगाये जाते थे।

एक दिन फ़ाहियान घूमते-घूमते पाटलिपुत्र के पास मगध साम्राज्य के ही अधीनस्थ एक राजा की राजसभा में पहुँचा। वहाँ उसने देखा कि दो किसान आपसी विवाद को सुलझाने के लिए राजा के पास आये हैं। फ़ाहियान किसानों की बात ध्यान से सुनने लगा। वह जानना चाहता था कि इस देश के लोग आख़िर झगड़ते किस बात पर हैं। पहले किसान ने राजा से शिकायत की—'महाराज, मैंने इसको खेत बेचा था। अब वहाँ मिट्टी या सोना कुछ भी हो, वह इसी का होना चाहिये। इस खेत में सोने की मोहरों से भरा एक घड़ा मिला है। यह इसे वापस कर रहा है। महाराज, आप ही न्याय करें। यह मैं क्यों लूँ?' दूसरा किसान बोला—'इसका कहना ठीक है, महाराज! लेकिन मैंने तो खेत ख़रीदा था, सोने की मोहरों से भरा घड़ा नहीं, इसलिए घड़ा तो इसी का हुआ। मैं तो इसे छू भी नहीं सकता।'

यह दृश्य जब फ़ाहियान ने देखा तो वह आश्चर्यचकित हो गया। इनका झगड़ा सोना लेने के लिए नहीं बल्कि न लेने के लिए हो रहा है। जब राजा ने यह देखा कि कोई सोना लेने को तैयार ही नहीं है, तो उसने निर्णय सुनाया कि सोना पूरे गाँव का है। इसलिए यह गाँव की भलाई के काम में लगाया जायेगा। इस निर्णय को सुन कर दोनों किसान प्रसन्न हो गये। तब फ़ाहियान की समझ में आया कि पराये धन को मिट्टी के समान समझने वाले उच्च चरित्रवान निवासियों के कारण ही यह देश स्वर्ग है।

—'शिशु मन्दिर सन्देश' से साभार

अग्निशिखा का वार्षिक शुल्क :

एक वर्ष—१८० रु.; तीन वर्ष—५२० रु.; पाँच वर्ष—८६० रु.।

उनकी कृपा का स्पर्श कठिनाई को सुयोग में, विफलता को सफलता में और दुर्बलता को अविचल बल में परिणत कर देता है। भगवती माँ की कृपा परमेश्वर की अनुमति है, आज हो या कल, उसका फल निश्चित है, पूर्वनिर्दिष्ट अवश्यंभावी और अनिवार्य है ।

— श्रीअरविन्द

अमरनाथ शिक्षण संस्थान, मथुरा (उ.प्र.)

फोन– 0565–3240006, 9358340375

Website : anvaschool.org, Email-amarnath.mtr1@rediffmail.com

Date of Publication: 1[st] September 2017
Rs. 15.00 (Monthly) Registered: SSP/PY/47/2015-2017
RNI No.18135/70 WPP No.TN/PMG/(CCR)/WPP-472/15-17